

शंखनाद

"गांधी जी अगर राष्ट्र के पिता थे तो महर्षि दयानंद सरस्वती राष्ट्र के पितामह थे। महर्षि जी हमारी राष्ट्रीय प्रवृत्ति और स्वाधीनता आंदोलन के आद्य-प्रवर्तक थे। गांधी जी उन्हीं के पदचिह्नों पर चले। यदि महर्षि हमें मार्ग न दिखाते तो अंग्रेजी शासन में उस समय सारा पंजाब मुसलमान हो जाता और सारा बंगाल ईसाई हो जाता।"

—अनंतशयनम् आयंगर

"महर्षि दयानंद भारतमाता के उन प्रसिद्ध और उच्च आत्माओं में से थे, जिनका नाम संसार के इतिहास में सदैव चमकते हुए सितारों की तरह प्रकाशित रहेगा। वे भारतमाता के उन सपूतों में से हैं, जिनके व्यक्तित्व पर जितना भी अभिमान किया जाए थोड़ा है। नेपोलियन और सिकंदर जैसे अनेक सम्राट एवं विजेता संसार में हो चुके हैं, परंतु स्वामी जी उन सबसे बढ़कर थे।"

—खदीजा बेगम

"बहुत-से लोग महर्षि दयानंद को सामाजिक और धार्मिक सुधारक कहते हैं, परंतु मेरी दृष्टि में तो वे सच्चे राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने सारे देश में एक भाषा, खादी, स्वदेश प्रचार, पंचायतों की स्थापना, दलितोद्धार, राष्ट्रीय और सामाजिक एकता, उत्कट देशाभिमान और स्वराज्य की घोषणा—यह सब बहुत पहले से देश को दिया है।"

—विट्ठलभाई पटेल

ISBN—81-88121-07-X

मूल्य : रु० 70.00

स्वामी दयानंद के जीवन पर आधारित औपन्यासिक कृति

शंखनाद

गांधी जी अ
मनस्वती राष्ट्र
प्रवृत्ति और स
गांधी जी उन
मार्ग न दिखा
पंजाब मुसलम
जाता।'

महर्षि दयान
आत्माओं में
सदा चमकते
भारतमाता के
जितना भी उ
और सिकंदर
हो चुके हैं, प

"बहुत-से लोग
सुधारक कह
राजनीतिज्ञ थे
स्वदेश प्रचार,
और सामाजि
की घोषणा—
है।"

परमेश्वरी प्रकाशन
प्रीत विहार, दिल्ली-110092

शंखनाद

डॉ० राज बुद्धिराजा

ISBN—81-88121-07-X

प्रकाशक
परमेश्वरी प्रकाशन
बी-109, प्रीत विहार
दिल्ली-110092

प्रथम संस्करण
2002

मूल्य
सत्तर रुपये

मुद्रक
एम०एन० प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-1100

SHANKHANAAD (Hindi
by Raj Buddhiraja
Price Rs 70.00

अपनी माँ शान्ति अग्निहोत्री के लिए

गान्धी
संस्कृत
प्रवृत्ति
गाजी
लाग न
पजाब
जाता।

यद्यपि
अन्यार
मदद
भारतम
जितना
आर ि
हा चुके

'बहुत-
सुधारक
राजनीं
स्वदेश
आर स
की थो
है।"

अपनी बात

1824-1883 तक का समय। गुजरात के टकारा गाँव मे एक शिशु का जन्म हुआ जो मूलशकर, दयाराम, शुद्ध चैतन्य आदि नामों से गुज़रता हुआ दयानद सरस्वती के विख्यात नाम तक पहुँचा। वैदिक एव संस्कृत साहित्य का विधिवत् अध्ययन कर आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर शिक्षाविद्, साहित्यकार और समाज-सुधारक रूप में सामाजिक-विकृत रूढियों, अधविश्वासो पर जमकर चोट की। उस समय धार्मिक मठाधीशों की पोल खोली और आर्यसमाज की स्थान-स्थान पर स्थापना की। असत्य को छोडने और सत्य को ग्रहण करने की प्रेरणा दी। एकबारगी उन्होने अधार्मिक जडो को हिलाकर रख दिया। लगभग संपूर्ण भारत का भ्रमण कर जनमानस को नई दिशा दी, जगाने की कोशिश की। देश के राजाओं-महाराजाओं के मन मे आर्यावर्त और आर्यभाषा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की। स्वामी जी पर बहुत कुछ लिखा और कहा जा चुका है। फिर भी मैंने ही क्यो इनकी जीवनी लिखने की ठानी।

हुआ यूँ कि पिछले दिनों मुझे काकड़वाड़ी आर्यसमाज, मुबई जाने का मौका मिला। वह कुर्सी भी देखी जिस पर बैठकर वे विद्वानो-मनीषियों से बात किया करते थे। यज्ञशाला और चाँदी के पात्र भी देखे। उनकी हस्तलिपि भी देखी। समाज की मीटिंग के मिनिट्स वे अपने हाथ से ही लिखते थे। मैंने अब तक उनके जो चित्र देख उन सबका मेरे जीवन पर गहरा असर हुआ था। हाथ मे छडी, कोहनी मेज़ पर टिकाए, पगडी और दुशाला डाले, लकड़ी की खडाऊँ और गंभीर-शांत मुद्रा। लगता रहा कि जैसे अभी बोले कि बोले। कुछ ऐसा प्रहार करेंगे कि मैं हिल उठूँगी।

जिन दिनो मैं यजुर्वेद कटस्थ करने की मुद्रा मे थी, और पडित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी के चरणो मे बैठ 'अष्टाध्यायी' का अध्ययन कर रही थी, तो गुरुजी ने मुझे 'सत्यार्थप्रकाश' पढने का आदेश दिया था। उस समय मैंने कई बार यह ग्रंथ खोला था और आधा-अधूरा पढकर छोड दिया था। मुझे लगा कि यह गुरु-गभीर ग्रंथ मेरे वश के बाहर है। मैं कभी भी नही समझ पाऊँगी। पिछले साठ वर्ष के मेरे पारिवारिक सस्कार, पैंतीस वर्ष का हिंदी अध्यापन-अध्ययन, देश-विदेश के विद्वानो से विचार-विमर्श और विशेष रूप से हिंदी गद्य के विकास मे स्वामी जी के योगदान की उपेक्षा ने मुझे फिर से 'सत्यार्थप्रकाश' का करने को बाध्य कर दिया

आज के बदलते पारिवारिक मूल्य, बच्चो. किशारो, युवतियों-युवको मे फैली उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता से मै ग्रस्त रहने लगी। अपने साप्ताहिक स्तभ 'हाशिये पर' मे अपनी शैली से मीठी-मीठी चोट करने लगी।

स्वामीजी का साहित्य विधिवत् पढने के बाद मै इस निष्कर्ष पर पहुँची कि आज के हर वर्ग के लिए उनका साहित्य रामबाण है। उन्होने पराधीन भारत को ललकारा था और आज स्वाधीन भारत के लोग दासता की ओर चले जा रहे है। राजनीति, धर्म, समाज और साहित्य में फैले भ्रष्टाचार को जड से उखाडने के लिए सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन हर मनुष्य के लिए परम आवश्यक है। मै यह सोचकर कॉप उठती हूँ कि स्वामीजी ने किस साहस के साथ बीहड़, वनो, पर्वतों की यात्रा की होगी और विरोधियों के चक्रव्यूह का भेदन किया होगा। मुझे लगा कि स्वामी जी बहुत दूर बैठे शखनाद कर रहे है और वह आवाज मुझे झकझोरती चली जा रही है।

उनके गुरु-गभीर दर्शन को तीन भागों में विभक्त किया है—1. जीवन-यात्रा, 2 साहित्यकार रूप, 3. समाज-सुधारक।

पुस्तक के अत मे परिशिष्ट रूप मे आर्यसमाज के नियम, सदर्भ-ग्रथ और आर्यावर्त पर राज्य करने वाले महत्त्वपूर्ण नाम।

मेरे लिए आपकी जीवनी को औपन्यासिक रूप देना दुष्कर कार्य था। फिर भी मुख्यतः मैंने दो ही पात्र लिए है—जिज्ञासु के रूप मे वत्स और उत्तर देते स्वामी जी। कही-कही कुछ घटनाओं को भी मैंने कथा-सूत्र मे पिरोने की कोशिश की है।

इस जीवनी को लिखने का उद्देश्य यही रहा कि हम सत्य को सत्य और असत्य को असत्य कहने का साहस जुटा सके। यदि मेरा प्रयास किसी एक मन को भी उद्वेलित कर सका तो मै अपना प्रयास सफल मानूँगी। सत्यार्थप्रकाश के पहले चार सामुल्लास तो हर व्यक्ति को कठस्थ होने ही चाहिए। इसी आशा के साथ मै कुछ शब्द, कुछ पक्तियॉ, कुछ घटनाऍ, कुछ इतिहास और कुछ प्रश्न आप सबको सौपती हूँ।

शायद कुछ प्रश्नों का उत्तर आपके पास होगा।

जी 233, प्रीत विहार
दिल्ली-110092

—राज बुद्धिराजा

अनुक्रम

प्रारंभ 13

यात्रा 21

साहित्यकार रूप 52

समाज-सुधारक, इतिहासकार 74

परिशिष्ट

आर्यावर्त 89

आर्यसमाज के नियम 90

स्वामी दयानंदजी की जीवन-यात्रा की प्रमुख तिथियाँ 91

संदर्भ-ग्रंथ 92

शंखनाद

प्रारंभ

सन् 1824, भाद्रपद कृष्णा, तिथि नौ, बृहस्पतिवार। गुजरात प्रांत का काठियावाड़ सभाग, राज्य मोरवी (राजकोट) का एक छोटा-सा गाँव टंकारा। टंकारा का एक समृद्ध सनातनी परिवार, परिवार के मुखिया उच्च पदासीन बहीवटदार, कट्टर सनातनी औदिच्य ब्राह्मण, ब्राह्मण का नाम करसनजी लालजी तिवारी। इन्हीं के आँगन उक्त तिथि को एक बालक का जन्म हुआ, जिसे मूलजी (दयाराम) नाम दे दिया गया।

पुत्र-रत्न की प्राप्ति पर पूरा आँगन जगमगा उठा। मिठाइयाँ बाँटी गईं, गीत गाए गए। बाँहों के पालने में झुला-झुला लोरियाँ गाई गईं। अम्मा ने राई-नोन से नजर उतारी और पड़ोस का पड़ोस जुट आया नेह का आशीर्वादी स्पर्श देने के लिए। बालक ने कभी आकाश निहारा, कभी धरती देखी, कभी घुटने-घुटने चला और कभी चाँद खिलौना लेने को मचला। कभी किसी पृष्ठाश्व के लिए मचला। उसका लालन-पालन लाड-प्यार से हुआ, लेकिन पिता की अनुशासित दृष्टि हमेशा हावी रही।

बालक मूलशंकर को कभी स्कूल नहीं भेजा गया। उसकी प्रारंभिक शिक्षा पिता की देखरेख में घर पर ही हुई। संस्कृत के धर्मग्रंथों का पठन-पाठन कराया गया। उन दिनों बालकों को अपने कुल की परंपरा की शिक्षा प्रदान की जाती थी, इसलिए पिताजी ने उसमें पारिवारिक मर्यादा के संस्कार कूट-कूटकर भरे। बहुत-से धर्मग्रंथ और शास्त्रादि के श्लोक उसे कंठस्थ कराए गए। पाँचवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार कराया गया, यजुर्वेद संहिता का आरंभ कराके प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया। पिता शैव थे, इसलिए शैव मत की शिक्षा दी गई। सबसे बड़ी बात यह कि उसे गायत्री संध्या कंठस्थ कराई गई और विधि-विधानपूर्वक उसकी क्रिया भी कराई गई। देवनागरी अक्षरों का ज्ञान सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण था। आज के युग में जब बालक-बालिकाएँ अनुशासनविहीन होकर तीन वर्ष की आयु से ही घमंडी, हठी और अशिष्ट होना शुरू कर देते हैं, उस आयु में उसे कठोर नियमों का पालन कराया गया। पिता चाहते थे कि उनका मूलशंकर विधि-विधानपूर्वक पूजा किया करे।

'कल से मूल मिट्टी का शिवलिंग बनाकर उसकी पूजा किया करेगा।' पिताजी ने एक दिन आदेश दिया।

'लेकिन यह कैसे हो सकता है ? वह तो सुबह-सवेरे भोजन कर लेता है।' माँ

कहा करती।

'वह भोजन नही करेगा, सिर्फ पूजा करेगा, जैसा कि मै करता हू। परिवार के धार्मिक अनुष्ठान तो उसे करने ही पडेंगे।'

पिता के कठोर अनुशासन के सामने किसी की कुछ नहीं चली और मूलशकर शास्त्रों के कंठस्थ करने, पूजा करने मे लग गया। जैसा कि हम कह चुके है कि पिता कुल की रीति का निर्वाह करने पर बल दिया करते थे–

'उसे हर रोज हमारी तरह पूजा अवश्य करनी चाहिए, यही हमारे कुल की रीति है।' पिताजी कहा करते।

'व्याकरण कठस्थ करो।'

'वेद पढ़ो।'

'रोज मंदिर जाया करो।'

मूलशकर पिता की आज्ञा शिरोधार्य करता। वह उनके साथ मदिर जाता, सत्सग करता और उनके मित्रों से सम्मानपूर्वक मिलता।

'कान खोलकर सुन लो तुम। शिवजी की उपासना ही श्रेष्ठ है, इसलिए वही किया करो।'

और मूलशकर किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते यजुर्वेद की सपूर्ण संहिता का पाठ करते-करते, व्याकरण की शव्दरूपावलियो को कठस्थ करते-करते और शिव-पूजा करते-करते वह पिताजी की दृष्टि मे परिपक्व होता जा रहा था। वह अपने परिवार के सदस्यो के साथ शिवजी का व्रत करता, विशेष रूप से शिवरात्रि पर। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि इस किशोर बालक को दयानंद वनाने में उसके पिताजी का वहुत बडा हाथ था। जाने-अनजाने उन्होंने अपने हाथों से पुत्र को गढ़ा, मॉजा चमकाया था। उसकी वाल्यावस्था और किशोरावस्था उसके लिए एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि थी। उसकी मानसिकता आगे चलकर उसे लौह-पुरुष वना सकी।

अब मै अपने पाठको को टंकारा के उस शिव-मदिर मे ले जा रही हूँ, जहॉ मूलशंकर को ज्ञान प्राप्त हुआ था।

सन् 1837, टंकारा का एक शिव-मदिर। मंदिर मे स्थापित शिव-मूर्ति। उपवास और शिव-स्तुति। रात्रि-जागरण।

'ओ३म् नम शिवाय', 'ओ३म् नम: शिवाय' का भजन-कीर्तन चल रहा है। भक्तगण झूम-झूमकर, मस्ती मे ताली बजा-बजाकर कीर्तन कर रहे है। शायद अभी शिवजी दर्शन देगे, इसी आशा से शिवलिंग पर आस्थापूर्वक जल-दुग्ध, मिष्टान्न, फल, पुष्प अर्पित कर रहे है। श्रद्धा और भक्ति का वातावरण है चारो ओर। शिव-स्तुति की गूँज आकाश तक पहुँच रही है।

रात्रि बीतती चली जा रही है, लेकिन शिवजी है कि दर्शन देने का नाम ही नहीं लेते। भक्तों का उत्साह धीरे-धीरे कम हो रहा है। शिव-स्तुति का उच्च स्वर मद्धिम हो रहा है, धीरे-धीरे भक्तगण ऊँघने लगे हैं। श्रद्धा ऊँघ में परिवर्तित होती जा रही है। अन्य भक्तों के अलावा करसनजी लालजी तिवारी भी ऊँघने लगे हैं। कुछ लोग सो चुके हैं, लेकिन एक किशोर जाग रहा है, उसका नाम है मूलशकर।

'सो जाने पर मुझे व्रत का फल नहीं मिलेगा।' वह सोचता है।

'मुझे शिवजी के दर्शन करने है। सो जाने पर नहीं होंगे।' उसका किशोर मन खुद से बातें करने लगता है।

'मुझे अपनी ऑखो पर जल के छींटे मारने चाहिए, ताकि नींद भाग जाए।' नींद को भगाने के लिए वह ऐसा ही करता है। वह देखता है कि ऊँघते-ऊँघते उसके पिताजी भी निद्रादेवी की गोद मे चले गए।

'लेकिन यह क्या ? सो जाने पर वे शिवजी के दर्शन कैसे करेंगे ?'

'यह कैसा निर्जल व्रत है !' पुजारी जी भी भक्तों के साथ सो गए। केवल मूलशकर जाग रहा है। 'माँ के बार-बार मना करने पर भी पिता ने निर्जल व्रत के लिए क्यो विवश किया ?'

अचानक उसकी दृष्टि एक चुहिया पर पड़ी। वह मजे-मज़े से फुदक-फुदक, कूद-कूदकर शिवलिग पर चढती, प्रसाद खाती, उतरती। पर यह क्या ? शिवजी उसे हटाते क्यो नही ? चुहिया उनके शरीर को कष्ट दे रही है। वे उसे भगाते क्यो नहीं ? बालक मूलशकर सोचते-सोचते आगे निकल गया। उसके मन के आकाश पर तरह-तरह के बादल उमड़ने-घुमडने लगे। वह फिर से सोचने लगा।

'यह कौन-से सर्वशक्तिमान महादेव हैं जिनके शरीर पर साधारण-सी चुहिया उछल-उछलकर प्रसाद खा रही है। ऐसा नहीं हो सकता। यह तो मनुष्य है, देवता है या कुछ और।' बालक को कुछ भी नहीं सूझा। उसने एक बार और सोचा—'क्या यह डमरू बजाने वाला, नंदी बैल की सवारी करने वाला, श्राप देने वाला कैलासपति है या कोई और ?'

उसने घबराकर पिताजी को जगाया। शायद उसके पिता ही उसके प्रश्नो का उत्तर दे सकें। पर पिताजी क्रोध में पागल होकर बोले, 'क्या है ?' शायद उन्हे यह पसद नही था कि उन्हे नीद से जगाया जाए। शायद वे भूल गए थे कि वे घर मे नहीं, मदिर में सो रहे थे—उस मंदिर में जहाँ वे अपने आराध्य महादेव की आराधना कर रहे थे।

मूलशकर ने डरते-डरते कहा, 'पिताजी, आपने कैलासपति चेतन महादेव की कथा सुनाई थी। पर यह महादेव तो वह वाला महादेव नहीं है। इस पर तो चुहिया

चढ़ रही है।'

पिताजी ने खीझते-खीझते अपने पुत्र को समझाते हुए कहा, 'असली महादेव तो कैलास पर्वत पर रहते है। कलियुग में तो उस महादेव के दर्शन ही नही होते। इसलिए हम लोग उनकी मूर्ति बनाते, उसकी प्राण-प्रतिष्ठा कर पूजा करते हे। पाषाण की मूर्ति बना उसमे ही सच्चे शिव की कल्पना-पूजा से कैलासवासी शिव प्रसन्न हो जाते है।'

पिता आधी नींद मे थे। वे फिर सो गए। मूलशकर की समझ मे कुछ आया और कुछ नही आया। उसे लगा कि पत्थर का शिव सच्चा शिव नही हो सकता, ओर सच्चा शिव यहाँ आ नही सकता। ऐसा क्यो ?

उसके 'क्यो' का उत्तर किसी के भी पास नही था। उसके पिताजी के पास, पुजारीजी के पास, मठाधीशों के पास और खुद उसके पास भी नही था। उसके हृदय मे सच्चे शिव की तलाश का पहला अकुर फूटा। उसे लगा कि उसे भूख लग रही है। ऐसे व्रत का कोई लाभ नहीं। पिताजी से कहा, 'अब मै घर जाऊँगा।'

'जा। सिपाहियों को साथ लेकर चला जा। हॉ, याद रखना, घर जाकर खाना मत खाना।' पिता ने चेतावनी देते हुए कहा। 'हॉ' की मुद्रा मे सिर हिलाते हुए वह घर की ओर चला। पिता के सिपाही उसके साथ-साथ चल रहे थे।

घर पहुँचते ही पहली बात जो मॉ से कही, वह यह थी, 'मॉ, मुझे बहुत भूख लगी है। कुछ खाने को दो।'

'मैने तो पहले ही कहा था कि तुम भूखे नहीं रह सकते। पर तुम्हारे पिता की जिद के सामने एक नही चली मेरी।' उसके सिर पर हाथ फेरते हुए मॉ ने उसे मिठाई खाने को दी। साथ ही यह भी कहा कि 'तुम पिता से यह मत कहना कि तुमने मिठाई खाई है। नही तो वे ताड़ना करेंगे।'

अगली सुबह पिता को मिठाइ खाने की बात पता चल गई। उन्होने खूब डॉटा-फटकारा और कहा, 'यह तुमने अच्छा नही किया। यह दंडनीय अपराध है। तुमने व्रत तोड़ा है।'

लेकिन तब तक मूलशकर के भीतर का भय काफूर हो चुका था। उसके स्थान पर एक नई विचारधारा जाग्रत् हो चुकी थी। उसने आग्नेय पिता को एक बार देखा ओर दृढता से कहा, 'यह कथा वाला महादेव नहीं है, इसलिए मै पूजा नहीं करूँगा। मै उस सच्चे शिव के दर्शन करूँगा जो कैलास पर्वत पर रहते है।'

इतना कहकर मूलशकर पढने के लिए भीतर चला गया। यह सुनकर पिताजी बहुत क्रुद्ध हुए। अपने बेटे के विद्रोह पर वे गुस्से से कॉपने लगे। मॉ और चाचा ने समझा-बुझाकर किसी तरह उन्हे शात किया। अब उस घर मे दो प्रकार की विचारधाराएँ अदर ही-अदर फूटने लगीं पिता इस बात से चिंतित थे कि कहीं बेटा

उनके हाथ से निकल न जाए और बेटे का हृदय शंखनाद कर रहा था। उसने कुछ निश्चय किया और उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। शायद इसी शंखनाद ने उसे भविष्य में दयानंद बना दिया। उस समय कौन जानता था कि पिता के घोर अनुशासन में पढ़-लिखकर मूलशंकर उन्नीसवीं सदी का एक प्रखर, जुझारू समाज-सुधारक बन पाखंड-खंडिनी पताका फहराएगा, सदी में फैली सामाजिक कुरीतियों पर कुठार-पाणि बनकर प्रहार करेगा, पाखंड-दंभ को जड़ से उखाड़ फेंकेगा।

किशोरावस्था में घटित शिवरात्रि ने मूलशंकर के मन में सुप्त विचारों को जाग्रत किया। सच तो यह है कि इस किशोर ने न केवल बने-बनाए मार्ग का परित्याग कर एक नया मार्ग बनाया, बल्कि सच्चे शिव की खोज कर सत्य की खोज भी की। यह खोज 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के रूप में बहुचर्चित भी हुई। यह कहा जा सकता है कि इस अर्द्धरात्रि में यदि चुहिया शिवलिंग पर चढ़कर प्रसाद न खा रही होती तो शायद मूलशंकर के मन में सच्चे शिव-दर्शन की इच्छा जाग्रत् न हुई होती। मैं तो उस मंदिर के सामने नतमस्तक हूँ और धन्यवाद करती हूँ उस चुहिया का जिसने मूलशंकर के अंतर में तुमुलनाद किया। यदि तुमुलनाद न होता तो नारी-जागरण-काल न आता।

दिन-पर-दिन बीतते गए और मूलशंकर के मन में सच्चे शिव की तलाश की प्रवृत्ति जोर पकड़ती गई। वह निरंतर अध्ययन और स्वतंत्र चिंतन में मग्न रहने लगा। वह कुछ-न-कुछ नया करने को आतुर रहने लगा। परंपरा से चली आ रही विचारधारा को उसने केवल इसलिए नहीं स्वीकारा कि वह उसके पिताजी द्वारा कही गई है। उसका मन जो कहता उसी को स्वीकारा जाता। शायद उसका मन इतना विद्रोही हो चुका था कि अनुत्तरित प्रश्नों के जाल से वह निकलना चाहता था।

'कहाँ खोजूँ इन सवालों के जवाब ?' वह सोचता।

'मंदिरों में, मूर्तियों में, तिलक-छापे में, गेरुए में, जंगलों में, नदियों में, पहाड़ों में ? कहाँ-कहाँ जाकर कौन-से गुरु का शिष्यत्व स्वीकारूँ और अपने उस कैलासपति शिव को खोजूँ ?' मूलशंकर का भ्रमित मन कुछ सोच रहा था और पूरा-का-पूरा समाज अपने-अपने भगवानों में मगन हो रहा था तथा मूलशंकर अपने भगवान् को तलाश रहा था, अपने चेतन शिव को।

उसका जिज्ञासु मन निघंटु, निरुक्त, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों का अध्ययन-मनन करने में जुट गया। उसके एक हाथ में शास्त्रोक्त ज्ञान और दूसरे हाथ में कर्मकांड का दीपक था। इन दोनों से उसके भीतर उषा का सवेरा होने को था कि उन्हें दुःख के दरिया में बार-बार डूबना-तिरना पड़ा।

पाँच भाई-बहनों में ज्येष्ठ मूलशंकर उससे छोटी एक बहन बहन से छोटा एक

भाई, उस भाई से छोटी एक बहन और उससे एक और छोटा भाई। उसका भाई-बहनो से लगाव था। तब मूलशकर सोलह वर्ष का था और उसकी छोटी बहन चौदह वर्ष की। अचानक बहन को हैज़ा हुआ। वैद्यो को बुलाया गया, कोई लाभ नही हुआ और चार घंटो मे ही बहन का शरीर छूट गया। परिवार और आस-पडोस के लोग फूट-फूटकर रोने लगे, विलाप करने लगे। मूलशकर को गहरा आघात लगा और डर के मारे वह कॉपने लगा। 'क्या मै भी किसी दिन मर जाऊँगा ?' वह सोचने लगा— 'क्या ससार के सभी लोग मर जाएँगे ? क्या एक भी आदमी नही बचेगा ? क्या सपूर्ण सृष्टि मृत्यु की गोद में समा जाएगी ?'

मूलशकर का मृत्यु से पहला साक्षात्कार था। 'जो बहन कुछ देर पहले रोती-हँसती, खाती-पीती, चलती-फिरती, बातचीत करती थी, वह अचानक कहाँ चली गई ?' वह सोच रहा था।

'उठ मूलशकर, उठ।' चाचा ने कहा।

'यह सब मिट्टी है अब।'

'मिट्टी नहीं, उसकी सभी इद्रियॉ उसके पास हैं। वह बोलती क्यो नही ? ऐसी क्या चीज है जिसने उसे मृत कर दिया ? ऐसा कोई उपाय है जिससे मृत्यु से मुक्ति प्राप्त की जा सके ?'

संभवतः ऐसा कोई उपाय कोई नही जानता था। और मूलशकर अपनी ही उलझनो में उलझता चला जा रहा था।

'चाचा, आप जानते है इस मृत्यु के कष्ट से छूटने के उपाय ?'

चाचा भी कुछ नही जानते थे। वे केवल कातर दृष्टि से उस किशोर को ताकते रहे। उस किशोर के भीतर इतना अधड़-तूफान उठा था जो उसे हिलाकर रख गया था। वह पत्थर बन चुका था। जब माता-पिता और परिवारजन फूट-फूटकर रो रहे थे तब मूलशकर अश्रुपात नही कर सका और न ही किसी से शोक प्रकट कर सका, कुटुंबियो की दृष्टि मे निदा का पात्र बन गया।

'कैसा पत्थर है ! बहन की मृत्यु पर एक आँसू भी नही बहा सका।'

'कौन-से शास्त्र मे लिखा है कि मृत्यु पर शोक न करो ?'

'कैसा भाई है यह ?' आदि-आदि कई तरह के स्वर उसके कानों में पडते रहे। मूलशकर था कि अपने ही प्रश्नो के जंगल मे घूमता रहा। एक ओर ससार का अनत ऐश्वर्य और दूसरी ओर उसे निगल जाने वाली मृत्यु की सहस्रो जिह्वाएँ। वह कुछ नही समझ सका। उसके सामने केवल एक ही सवाल मुँह बाए खड़ा था और वह था मृत्यु से मुक्ति।

मूलशंकर जैसे-जैसे किशोरावस्था का आगन लाघ युवावस्था के प्रवेश द्वार की

ओर जा रहा था वैसे-वैसे उसकी छटपटाहट भी बढ़ती चली जा रही थी। वह उन्नीस वर्ष का हो चुका था। उस जमाने में इस आयु तक पहुँचते-पहुँचते विवाह की बातें शुरू हो जाती थी और परिवारजन गृहस्थ-प्रवेश की बातें शुरू करने लगते थे। विक्षुब्ध मूलशकर को भी 'ठीक रास्ते' पर लाने के लिए विवाह का उचित खूँटा तलाशा जाने लगा। क्या ऐसा सभव हो सका ? शायद नही।

भगिनी की मृत्यु का घाव अभी भरा भी नही था कि मूलशकर के परमप्रिय विद्वान् चाचा का निधन हो गया। पूरा परिवार शोक-सागर मे डूब गया। मूलशकर के कदम वैराग्य की ओर बढने लगे। उसका मन घर से भाग जाने का हुआ। चाचा ही तो थे जो उसे प्यार के पालने मे झुलाया करते। क्या इतने प्रिय और सरल व्यक्ति भी मृत्यु को प्राप्त होते है ? समस्या ज़्यादा गंभीर थी। दूसरी बार उसका मृत्यु से साक्षात्कार हुआ। विलाप के क्षणो मे भी वह पाषाणवत् बैठा रहा।

'मै मृत्यु से मुक्त होना चाहता हूँ। गृहस्थ मे नहीं जाना चाहता।' मूलशकर ने अपने मित्र से कहा।

'ऐसा असभव है। सभी विवाह करते है।' मित्र ने कहा।

'पर मैं नहीं करूँगा। बँधी-बँधाई लकीर पर नही चलूँगा।' मूलशंकर ने कहा।

मित्र उसकी दृढ इच्छा-शक्ति से परिचित था। उसे डर था कि मूलशंकर घर छोडकर भाग न जाए।

इधर माता-पिता मूलशंकर को विवाह मे बॉधने की योजना बना रहे थे और उधर उसका युवक मन कुछ और सोच रहा था। वह घर छोड़ने की योजना बना रहा था। जब मित्रो से पता चला कि बीसवें मे विवाह कर दिया जाएगा तो मूलशंकर ने निर्भय होकर पिताजी से कहा, 'मैं काशी जाकर ज्योतिष और वैद्यक आदि ग्रथो का अध्ययन करना चाहता हूँ। वहाँ जाने की अनुमति दीजिए।'

'मै कभी भी तुम्हे काशी नही भेजूँगा, यह बात तुम कान खोलकर सुन लो।' माता और अन्य कुटुंबी जनो ने भी उनकी हॉ मे हॉ मिलाई। मूलशंकर अपनी बात मनवाने मे लगा रहा और माता-पिता अपनी बात पर अडे रहे। उन्होने साफ़-साफ़ कहा, 'जो कुछ पढना है, यही रहकर पढ़ो। अधिक पढ़कर क्या करना है ? जितना पढा है वह बहुत है। हमे तो तुम्हारा विवाह करना है।' पिता के सामने उसकी एक नही चली। वह सोच मे पड गया। एक तो अध्ययन मे बाधा और दूसरा विवाह करना।

'हमे तुम्हे कही नही भेजना और अभी तुम्हारा विवाह करना है।' माँ ने कहा।

अब मूलशकर ने टेढ़ी उँगली से घी निकालना चाहा। कोश गॉव मे करसनजी की ज़मादारी थी वहाँ एक धुरधर विद्वान् पंडित थे

'आप कृपा करके मुझे गाँव के ही पंडितजी के पास भेज दीजिए।' मूलशकर ने विनम्रता से कहा।

पिताजी ने सहर्ष स्वीकृति दे दी।

गॉव मे मूलशकर ज्योतिष और वैद्यक मे डूब गया। समय-समय पर वह गॉव के लोगों से कहता रहा कि मैं विवाह नहीं करूँगा। पहले तो किसी को विश्वास नही हुआ, बाद मे सभी आश्चर्यचकित हो जाते।

'कैसा पत्थर दिल है, स्त्री के सग की चाह नहीं।'

'कहने की बात है। जब अपनी पत्नी को देखेगा तो मोम बन जाएगा।'

ऐसी बातों का मूलशकर पर कुछ भी असर नहीं हुआ। जब बार-बार वह अविवाहित रहने की बात करता तो बढ़ते-बढ़ते बात पिता के कानों तक जा पहुँची। परिणामस्वरूप माता-पिता ने उसे घर वापस बुला लिया और विवाह की तैयारी मे जुट गए।

'अब बचकर कहाँ जाएगा बच्चू ?'

लेकिन बच्चू का मन कुछ और सोच रहा था। कहीं और मग्न था।

महीने-भर से विवाह की तैयारी चल रही थी। एक संपन्न गृहस्थ का घर लिपाई-पुताई से चमकने लगा था। बहू के लिए सुदर-सुदर बहुमूल्य आभूषण बनवाए-सजाए जा रहे थे। पिता बहुत प्रसन्न थे। खुशी के मारे मॉ के पॉव ज़मीन पर नहीं पडते थे। वे सुशील बहू के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थीं। परिवार, कुटुंबी जन, पास-पडोस सभी विवाहोत्सव देखने को आतुर थे। पर मूलशकर के चेहरे पर चिता की गहरी रेखाएँ थीं। उसका मन उससे जोरदार शब्दो मे कह रहा था—

'उठ मूलशकर, उठ। जाग, नींद तज, मृत्यु नामक महारोग की औषध ढूँढ।'

और मूलशंकर अर्द्धरात्रि के समय सुविधा-सपन्न घर छोड़ मृत्यु की औषध ढूँढने चल पड़ा। वह संवत् 1903 की रात्रि थी। उसके लिए प्रकाश-पर्व और माता-पिता के लिए अंधकार-पर्व।

यात्रा

रात्रि का गहन अंधकार।

छह फुटी चदन-काया मे निवास करने वाला वीतरागी मन तेजी से अपने गतव्य की ओर बढता चला जा रहा था। चैतन्य शिव की खोज, आत्मा की खोज और मृत्यु-कष्ट से मुक्ति के लिए मूलशंकर का मन बहुत व्यग्र था। अपनी इस व्यग्रता मे उसने एक बार भी अपने अतीत मे नहीं झॉका। न उसने पिता की व्यग्रता, मॉ की आकुलता, विवाह-संबंधी फीके होते ठाट-बाटी रंग के बारे में सोचा और न ही अपनी पत्नी के बारे मे। एक बार चलना शुरू किया तो सभी रास्ते उसे दिखाई देने लगे।

उधर माता-पिता पर वज्राघात हुआ। पिता भौचक्के, माता जलविहीन मीन, बधु-बाधव अवाक्। घर-बाहर का एक-एक कोना निस्तेज, शोक-सागर में डूबा-सा। पिता उसकी खोज में जुट गए। चारों ओर घुडसवार और पैदल सैनिक भेज दिए गए। उन्होने चप्पा-चप्पा छान मारा, परतु कही भी उसका सुराग नहीं मिला। जहॉ-जहॉ भी उसके होने की संभावनाऍ हो सकती थी, उसकी खोज की गई; पर निराशा हाथ लगी।

और मूलशकर था कि टेढ़े-मेढ़े रास्तो पर चलता चला जा रहा था। सीधे-सीधे प्रसिद्ध रास्तों पर इसलिए नहीं चला कि कही उसको पहचान न लिया जाए और घर की ओर न ले जाया जाए। वैसे तो उसे घर के किसी सदस्य से लगाव नहीं था, वह पूरी तरह अनासक्त हो चुका था, लेकिन परम स्नेही चाचा की याद उसे बार-बार व्यथित करती, विशेष रूप से उनके अंतिम पलो की याद। उन्हे विशूचिका रोग हो गया था। मुमूर्षु दशा को प्राप्त होने से पहले चाचा ने मूलशंकर को अपनी शय्या के पास बुलाया। मूलशंकर क्लांत तन-मन से उनके पास बैठ गया। उसका चेहरा देख वह परम स्नेही अश्रुधारा बहाते रहे। उन्हें पता ही नहीं चला कि कितना समय हो गया। चाचा-भतीजा मिलकर देर तक रोते रहे। रोते-रोते मूलशंकर की ऑखें सूज गई। लगता था कि गंगा-यमुना का मिलन हो रहा हो। शायद यह चाचा का स्नेह रहा होगा और भतीजे की कृतज्ञता। रास्ते-भर वह यही सोचता रहा कि मुझे भी इस ससार से जाना होगा।

मूलशंकर याद करता है उन पलों को जब बार-बार उसने मित्रों, बाधवो और सबधियों से मृत्यु-विजय के उपाय पूछे थे और कोई भी 'यह तो शाश्वत सत्य है' से

ज्यादा कुछ नही बता पाया था। यहाँ तक कि उसका परमप्रिय मुसलमान मित्र इब्राहीम खान भी कुछ नही कह सका था। 'मृत्यु तो सभी की होती है', कहकर चुप्पी साध गया था।

वह वनो, जंगलों तक जाना चाहता था, क्योंकि वहाँ जितेंद्रिय ऋषि-मुनि रहा करते थे। घर छोड़ने के बाद उसने गॉव के गॉव और शहर के शहर छोड दिए थे। पहला पडाव था चार कोस की दूरी पर और दूसरा पड़ाव था पद्रह कोस की दूरी पर एक हनुमानजी का मंदिर। संसार की दृष्टि मे निपट अकेले और अपनी दृष्टि मे अपने चिंतन को साथ ले निरतर चलता चला जा रहा था। पर उसे क्या पता था कि बीहड़ सुनसान रास्तो पर ऋषि-मुनि कम और ठग-चोर ज्यादा रहते है। रात्रि के पहले प्रहर में विश्राम करना और दूसरे प्रहर में निरंतर चलते चले जाना—यही उसका नियम था। पंद्रह कोस चलना मूलशंकर के लिए आम बात थी।

चलते-चलते उसने किसी राजपुरुष से सुना कि करसनजी का युवा पुत्र घर छोड भाग निकला है और उसकी खोज के लिए सिपाही इधर-उधर गश्त लगा रहे है।

मूलशंकर छिपता-छिपाता लगातार चलता रहा। रास्ते में उसे एक झुड मिला। उस झुड के सभी लोगों ने गेरुआ बाना तथा काला तिलक धारण किया हुआ था। मूलशंकर ने उन्हें सच्चा साधु समझा था, पर ऐसा कुछ नही था। उनकी नजर मूलशकर की अँगूठियो और अन्य आभूषणो की तरफ थी। वे यह भी ताड गए कि यह युवक घर से भागकर आ गया है।

'ऐ लडके, कहाँ से आते और कहाॅ जाते हो ?'

'घर से भागकर आए हो क्या ?'

'लाओ, ये आभूषण हमे दे दो।'

'मैं घर से नही भागा हूँ। सच्चे शिव की तलाश में जा रहा हूँ।' मूलशंकर ने तत्काल उत्तर दिया।

'अरे, आभूषण पहनकर कहीं कोई शिव के दर्शन कर सकता है ? कभी नही।'

'लाओ, ये आभूषण हमे दे दो। इनका त्याग कर गेरुआ पहनो, छापा तिलक करो। तब कही जाकर तुम्हें शिव के दर्शन होगे।'

उन चारो-पॉचों साधुओ ने मूलशंकर से सभी आभूषण उतरवा लिए। चलते-चलते मूलशकर को एक ब्रह्मचारी मिला और साधु भी। ब्रह्मचारी ने कहा, 'तुम जो भी हो, ठीक हो। तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन जाओ।'

मूलशकर को उस ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी और उसका 'शुद्ध चैतन्य' नाम रखा। बहकावे मे आकर गेरुआ भी धारण कर लिया। अपना पुराना नाम भूलकर गेरुआधारी उस शुद्ध चैतन्य की यात्रा दूसरे ढंग से शुरू हुई।

मेला सिद्धपुर का

अहमदाबाद के पास का एक छोटा-सा गाँव कोठगागड। शुद्ध चैतन्य वहाँ पहुँचे। उस गाँव मे सिद्धपुर मे लगने वाले मेले की चर्चा जोरों पर थी। उन्होंने सुना कि सिद्धपुर में नामी विचारवान पडित ब्रह्मज्ञानी ईश्वर-चर्चा करने के लिए इकट्ठा होने वाले हैं। शुद्ध चैतन्य के जिज्ञासु मन ने सोचा कि सभवत किसी वीतरागी की कृपा से उनके भाग्य खुल जाएँ।

अब वे सिद्धपुर की ओर चल पडे। रास्ते मे उन्हें एक वैरागी के दर्शन प्राप्त हुए। उनके चेहरे पर उमड़ने स्नेह को देखकर शुद्ध चैतन्य ने गृह-त्याग और रास्ते के अनेक कष्टों का बखान किया।

'इस युवक का चेहरा जाना-पहचाना लगता है। आखिर यह कौन हो सकता है?' वैरागीजी ने अपने मस्तिष्क पर जोर डाला, 'अरे, यह तो करसनजी का बेटा है !' उसके गृह-त्याग की कल्पना से ही वे काँप उठे। अपने स्थान पर जाकर उन्होंने पत्र द्वारा मूलशकर के पिता को यह सूचना दी कि उनका प्रिय पुत्र सिद्धपुर मे है।

कार्तिक मास का सिद्धपुर। ठिठुरन-भरे रात और दिन। तपस्वी संतों, साधुओं का जमावडा। उनके दर्शनार्थ आए सहस्रों जन, मुक्ति का उपाय ढूँढते साधारण जन। वैराग्य के पक्के रग में रँगे, धुन के धनी, सच्ची लगन में डूबे शुद्ध चैतन्य एक-एक कुटिया, एक-एक साधु के मनोद्वार पर दस्तक दे रहे थे। शायद किसी आसन-समक्ष नतमस्तक हो उन्हे कुछ प्राप्त हो जाए। ऐसा हुआ क्या ? शुद्ध चैतन्य के प्रश्न में मेरे मन का प्रश्न भी विलीन हो गया।

वैरागी का पत्र पाते ही चार सिपाहियों को साथ ले करसनजी सिद्धपुर की ओर चल पडे। क्या वे अपने इस ज्येष्ठ पुत्र को क्षमा कर पाएँगे, जो विवाहोत्सव के समय उनकी लाज-मर्यादा की धज्जियाँ उडा घर छोड़ आया था ? वे प्रसन्न थे कि उनका खोया हुआ बेटा उन्हें शीघ्र मिल जाएगा, उसे फिर से 'साधने' की कोशिश की जाएगी।

करसनजी जब सिद्धपुर पहुँचे तो उस समय उनका पुत्र काषाय पहने साधु-सतों के साथ एक शिवालय में बैठा था। पुत्र को इस वस्त्राभरण मे देख उनके क्रोध का पारा आसमान पर चढ गया। वे काँपते हुए बोले—

'तू हमारे कुल के लिए कलक है । तू मातृहता है ! तू इधर ढोंगी बन गेरुआ पहने है और उधर तेरी माँ रोग-शय्या पर पड़ी है, नालायक !'

पिता का रौद्र रूप देख शुद्ध चैतन्य की आँखें झरने लगी। उन्होंने भीगे नयनो से पिताजी से कहा—

मुझ क्षमा कर दीजिए मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा किसी के बहकावे में

आकर यहाँ चला आया था। मुझे अपनी करनी की सजा मिल चुकी है।'

पिता तब भी शात नही हुए।

'मै तो घर लौटने ही वाला था। अब मै आपके साथ चलूँगा।'

पिता ने तब भी कुछ नहीं कहा। गुस्से मे उसके गेरुए वस्त्र फाड दिए और सफेद वस्त्र पहना दिए। वे उसे अपने ठहरने के स्थान पर ले गए और उस पर कडा पहरा लगा दिया, क्योकि वे अब भी अनिश्चय के सागर मे डूब रहे थे। जिसने विश्व के विशाल प्रांगण मे रहने का निश्चय कर लिया हो, क्या वह घर की चारदीवारी मे लौटेगा ? जिसने सूक्ष्म स्नेह के, सूक्ष्म रेशम के बधन चटखा दिए हों, क्या वह पहरेदारो के बधन स्वीकारेगा ? शायद करसनजी उस समय नही सोच पा रहे थे कि इन प्रश्नो के उत्तर 'न' मे है।

शुद्ध चैतन्य एक ओर पिता को स्नेह-डोरी मे बाँधने की कोशिश करते रहे और दूसरी ओर यह योजना बनाते रहे कि अवसर मिलते ही यहाँ से कैसे भागा जाए।

वे पहरेदार भी कब तक जागते। जागते-जागते वे ऊँघने लगे और ऊँघते-ऊँघते प्रगाढ निद्रा में चले गए। चैतन्य ने सोचा कि भागने का यह अच्छा अवसर है। सिद्धपुर से आठ कोस की दूरी पर एक उद्यान। उद्यान मे मंदिर और मदिर का उच्च शिखर। यही शिखर उनके लिए एक रात्रि का आवास बना।

सुबह जब पिता की ऑख खुली तो बेटा नदारद। उन्होंने एक बार फिर सिपाही दौडाए, पर कोई परिणाम नही निकला। थक-हारकर खाली हाथ वे अपने घर टकारा चले गए। पिता-पुत्र की यह अतिम भेट थी। पिता के मन में घोर निराशा और पीडा तथा पुत्र के मन मे आशा और सुख ! बुद्ध बनकर सिद्धार्थ एक बार घर लौटे थे, पर मूलशंकर नहीं लौटे। उन्हे लौटना ही नही था। कैसे तोड़ी होगी उन्होने नेह की यह रेशमी डोर ?

गॉव-गाँव, डगर-डगर भटकते हुए चैतन्य बड़ौदा जा पहुँचे। उनके पास था उनका विशाल ज्ञान-भडार, व्याकरण-सम्मत यजुर्वेद का पठन-पाठन और ब्रह्मचर्य की दीक्षा। चैतन्य की खोज में जा पहुँचे वे चैतन्य मठ, जहाँ के साधु-संन्यासी घुटे हुए वेदाती थी। चैतन्य पर उनकी संगत का इतना गहरा रंग चढ़ा कि वे भी 'स्व' के सिवाय संसार-भर को मिथ्या समझने लगे, खुद को ब्रह्म समझने लगे। वे सोचते, 'मै ही ब्रह्म हूँ, कहीं और कुछ भी नही।' देखना यह है कि वे कब तक खुद को ब्रह्म समझने की भूल करते रहे।

सपूर्ण सांसारिक वासनाओ से मुक्त चैतन्य अपने हाथ का बनाया खाते, अध्ययन करते। 'पता नहीं कौन कैसे मन से पकाता है। अध्ययन करने मे बाधा डेती है।' भले ही उन्होंने वासनाओं को तज दिया था खुद का ब्रह्म भी समझ लिया

था। क्यो उन्हें लोरी देने वाली माँ की याद कभी नही आई होगी ? टुकडे-टुकडे वस्त्राभूषण जोडती वहू देखने को तरसती व्याकुल माँ का चेहरा उनके सामने कभी नही आया होगा ? पिता द्वारा उसे 'मातृहता' कहने पर उस युवक के मनाकाश पर स्नेह के बादल उमडे-घुमडे नही होंगे ? शायद हाँ। शायद नही। मेरी कलम तो आँखों के आबदार पिरोना जानती है।

संन्यास की ओर

इस प्रकार युवा चैतन्य की जीवन-यात्रा चलती रही। वे रसोई करते, शास्त्रो का गहन अध्ययन करते। इसी दौरान उनकी भेट कुछ साधु-सन्यासियों से हुई। बड़ौदा की वनारसी बाई वैरागी और परमानद परमहस प्रमुख है। बाई से वे शास्त्रोक्त चर्चा किया करते थे, लेकिन वह उनसे परिहास करने लगी थी। 'मै घर में रहकर किसी से परिहास नहीं करता, अब तो मै घर तज चुका हूँ।' चैतन्य ने उस बाई से किसी तरह पीछा छुड़ाया। उन्होंने चिदाश्रम मे साधु-सन्यासियों की सगत मे रहकर वेदात सार और तोटक वेदांत परिभाषा आदि पर गहन अध्ययन किया। वे अपने 'शुद्ध चैतन्य' नाम को ज़्यादा प्रचारित नही करना चाहते। 'कही पिताजी उन्हें फिर से घर की ओर न ले जाएँ।' ऐसा सोच उन्होंने संन्यास धारण करने का निश्चय किया। लेकिन इस उम्र मे कौन सन्यासी उन्हें संन्यास-धर्म की दीक्षा देता। और एक बार चाणोद के पास के घने जंगल मे बने एक घर मे किसी दक्षिणी पंडित और ब्रह्मचारी ने उन्हे सन्यस्त बना दिया। अब उन्होने गेरुआ धारण कर लिया। शुद्ध चैतन्य पंच द्राविड ब्रह्मचारी थे। सन्यास-दीक्षा और दंड ग्रहण करने के बाद उन्हे दयानंद सरस्वती नाम दिया गया। यह नाम एक ऐसा नाम था जिसमे दया और आनद का सगम था। इसी नाम को धारण कर वे नवजागरण के पुरोधा, प्रबल समाज-सुधारक और उच्च कोटि के साहित्यकार बने। इसी नाम के चलते उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' की रचना की, आर्यसमाज की स्थापना की और सोई हुई जनता मे शखनाद फूँका। जैसा कि हमने लिखा कि स्वामीजी ने केवल गेरुआ धारण किया और दड का विसर्जन कर दिया, क्योकि उसके विधि-विधान मे पड़ने से उनके कार्यक्षेत्र में कई तरह की बाधाएँ उपस्थित हो सकती थी। इस प्रकार करसनजी के बालक के तीन नाम हुए। मूलशकर या दयाराम जन्म का नाम, शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी का नाम और दयानंद संन्यासी का नाम। इस नाम को धारण करते ही, अपने सन्यस्त मन से जीवन-यात्रा की ओर निकल पडे।

चाणोद सन्यासी का व्यास आश्रम। यहीं रहकर स्वामीजी ने योग की शिक्षा ग्रहण की गुरु का नाम था योगानद सरस्वती उन्हाने पुरी और शिवानद

आकर यहाँ चला आया था। मुझे अपनी करनी की सज़ा मिल चुकी है।'

पिता तब भी शात नही हुए।

'मैं तो घर लौटने ही वाला था। अब मैं आपके साथ चलूँगा।'

पिता ने तब भी कुछ नहीं कहा। गुस्से मे उसके गेरुए वस्त्र फाड दिए ओर सफेद वस्त्र पहना दिए। वे उसे अपने ठहरने के स्थान पर ले गए और उस पर कडा पहरा लगा दिया, क्योकि वे अब भी अनिश्चय के सागर मे डूब रहे थे। जिसने विश्व के विशाल प्रांगण मे रहने का निश्चय कर लिया हो, क्या वह घर की चारदीवारी मे लौटेगा ? जिसने सूक्ष्म स्नेह के, सूक्ष्म रेशम के बधन चटखा दिए हों, क्या वह पहरेदारो के बधन स्वीकारेगा ? शायद करसनजी उस समय नही सोच पा रहे थे कि इन प्रश्नों के उत्तर 'न' में है।

शुद्ध चैतन्य एक ओर पिता को स्नेह-डोरी मे बॉधने की कोशिश करते रहे और दूसरी ओर यह योजना बनाते रहे कि अवसर मिलते ही यहाँ से कैसे भागा जाए।

वे पहरेदार भी कब तक जागते। जागते-जागते वे ऊँघने लगे और ऊँघते-ऊँघते प्रगाढ निद्रा मे चले गए। चैतन्य ने सोचा कि भागने का यह अच्छा अवसर है। सिद्धपुर से आठ कोस की दूरी पर एक उद्यान। उद्यान मे मंदिर और मदिर का उच्च शिखर। यही शिखर उनके लिए एक रात्रि का आवास बना।

सुबह जब पिता की ऑख खुली तो बेटा नदारद। उन्होने एक बार फिर सिपाही दौडाए; पर कोई परिणाम नही निकला। थक-हारकर खाली हाथ वे अपने घर टकारा चले गए। पिता-पुत्र की यह अंतिम भेट थी। पिता के मन में घोर निराशा और पीड़ा तथा पुत्र के मन में आशा और सुख ! बुद्ध बनकर सिद्धार्थ एक बार घर लौटे थे, पर मूलशकर नहीं लौटे। उन्हे लौटना ही नही था। कैसे तोड़ी होगी उन्होने नेह की यह रेशमी डोर ?

गॉव-गॉव, डगर-डगर भटकते हुए चैतन्य बड़ौदा जा पहुँचे। उनके पास था उनका विशाल ज्ञान-भंडार, व्याकरण-सम्मत यजुर्वेद का पठन-पाठन और ब्रह्मचर्य की दीक्षा। चैतन्य की खोज में जा पहुँचे वे चैतन्य मठ, जहाँ के साधु-संन्यासी घुटे हुए वेदाती थी। चैतन्य पर उनकी संगत का इतना गहरा रग चढा कि वे भी 'स्व' के सिवाय ससार-भर को मिथ्या समझने लगे, खुद को ब्रह्म समझने लगे। वे सोचते, 'मै ही ब्रह्म हूँ, कहीं और कुछ भी नहीं।' देखना यह है कि वे कब तक खुद को ब्रह्म समझने की भूल करते रहे।

सपूर्ण सासारिक वासनाओं से मुक्त चैतन्य अपने हाथ का बनाया खाते, अध्ययन करते। 'पता नहीं कौन कैसे मन से पकाता है। अध्ययन करने मे बाधा होती है।' भले ही उन्होंने वासनाओं को तज दिया था खुद को ब्रह्म भी समझ लिया

था। क्यो उन्हें लोरी देने वाली मॉ की याद कभी नही आई होगी ? टुकडे-टुकडे वस्त्राभूषण जोडती बहू देखने को तरसती व्याकुल मॉ का चेहरा उनके सामने कभी नही आया होगा ? पिता द्वारा उसे 'मातृहता' कहने पर उस युवक के मनाकाश पर स्नेह के बादल उमडे-घुमडे नही होंगे ? शायद हाँ। शायद नही। मेरी कलम तो ऑखो के आबदार पिरोना जानती है।

संन्यास की ओर

इस प्रकार युवा चैतन्य की जीवन-यात्रा चलती रही। वे रसोई करते, शास्त्रों का गहन अध्ययन करते। इसी दौरान उनकी भेट कुछ साधु-संन्यासियो से हुई। बडौदा की बनारसी बाई वैरागी और परमानद परमहंस प्रमुख हैं। बाई से वे शास्त्रोक्त चर्चा किया करते थे, लेकिन वह उनसे परिहास करने लगी थी। 'मै घर मे रहकर किसी से परिहास नही करता, अब तो मै घर तज चुका हूँ।' चैतन्य ने उस बाई से किसी तरह पीछा छुडाया। उन्होने चिदाश्रम में साधु-सन्यासियों की सगत मे रहकर वेदांत सार और तोटक वेदांत परिभाषा आदि पर गहन अध्ययन किया। वे अपने 'शुद्ध चैतन्य' नाम को ज़्यादा प्रचारित नही करना चाहते। 'कही पिताजी उन्हे फिर से घर की ओर न ले जाएँ।' ऐसा सोच उन्होंने सन्यास धारण करने का निश्चय किया। लेकिन इस उम्र मे कौन सन्यासी उन्हे संन्यास-धर्म की दीक्षा देता। और एक बार चाणोद के पास के घने जंगल में बने एक घर मे किसी दक्षिणी पंडित और ब्रह्मचारी ने उन्हे सन्यस्त बना दिया। अब उन्होने गेरुआ धारण कर लिया। शुद्ध चैतन्य पंच द्राविड ब्रह्मचारी थे। सन्यास-दीक्षा और दड ग्रहण करने के बाद उन्हे दयानद सरस्वती नाम दिया गया। यह नाम एक ऐसा नाम था जिसमें दया और आनद का सगम था। इसी नाम को धारण कर वे नवजागरण के पुरोधा, प्रबल समाज-सुधारक और उच्च कोटि के साहित्यकार बने। इसी नाम के चलते उन्होने 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' की रचना की, आर्यसमाज की स्थापना की और सोई हुई जनता मे शखनाद फूँका। जैसा कि हमने लिखा कि स्वामीजी ने केवल गेरुआ धारण किया और दड का विसर्जन कर दिया, क्योकि उसके विधि-विधान में पड़ने से उनके कार्यक्षेत्र मे कई तरह की बाधाएँ उपस्थित हो सकती थी। इस प्रकार करसनजी के बालक के तीन नाम हुए। मूलशकर या दयाराम जन्म का नाम, शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी का नाम और दयानद संन्यासी का नाम। इस नाम को धारण करते ही, अपने सन्यस्त मन से जीवन-यात्रा की ओर निकल पडे।

काणोद संन्यासी का व्यास आश्रम। यही रहकर स्वामीजी ने योग की शिक्षा ग्रहण की गुरु का नाम था योगानद सरस्वती उन्होंने पुरी और शिवानद

गिरि से दूधेश्वर महादेव में योग सीखा और एक कुशल अभ्यासी बन गए। उसके बाद आबूराज पर्वत और अर्बदा भवानी--इन स्थानो पर रहकर स्वामीजी ने योगादि विषयो पर गहरी खोज और अभ्यास किया। उन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य नौ वर्ष योग सीखने में व्यतीत किए। घर छोडने से लेकर सवत् 1911 तक हरिद्वार में लगने वाले कुंभ मेले के लगने, सपन्न होने तक चंडी की पर्वतीय गुफाओ मे तरह-तरह के कष्ट झेलकर स्वामीजी योगाभ्यास करते रहे। कुभ मेले मे स्वामीजी गए तो इसलिए थे कि साधु-सन्यासियो, योगाभ्यासियों से संभाषण करेगे। पर वहॉ तो लाखों लोगो की भीड थी। मार भीड, कोलाहल, स्नान, वस्त्र प्रक्षालन से हर की पौड़ी मैली हो चुकी थी और वे ऋषिकेश की ओर चले गए। कभी पैरों-पैरों चलकर, कभी योगाभ्यास कर, कभी योगियों-सन्यासियों से सभाषण कर स्वामीजी की जीवन-यात्रा कई पडावो पर रुक-रुककर आगे बढती रही। यहाँ वे लाखो अज्ञानी श्रद्धालुओं को पंडों और धूर्त साधुओं द्वारा ठगे जाते देखते रहे। वे कुछ समय ठहरते, कुछ देखते, कुछ सीखते और अनासक्त भाव से आगे की ओर बढ़ जाते। हरिद्वार से ऋषिकेश और ऋषिकेश से टिहरी और टिहरी से नगाधिराज हिमालय की ओर। वही हिमालय जो महादेव शिव की निवास-स्थली है। उस शिव की निवास-स्थली, जिसकी खोज मे उन्होने अपना घर, माता-पिता, बधु-बांधव और मित्र-समाज त्याग दिया था। अब तक उन्होने उद्दाम यौवन को साध लिया था, इद्रियो और मन पर अधिकार कर लिया था।

अब तक स्वामीजी ने किसी मत का खडन नही किया था। वे निरंतर चलते रहे थे। ऋषिकेश की तुलना मे टिहरी अधिक स्वच्छ और शांत। दूर-दूर फैले इक्के-दुक्के कच्चे-पक्के मकान, ऊबड-खाबड पगडडियाँ, वृक्षों की छाया तले कुटिया बना रहने वाले यति तपस्वी बस। पहाड़ का यह प्रथम दर्शन था। दूर से दिखाई देती आकाशछूती पर्वतमालाएँ।

यही पर उनकी मुलाकात राजपंडितों से भी हुई। वे एक-दूसरे के प्रश्नोत्तरों से पूर्ण संतुष्ट हुए। यह वही स्थान है जहाँ पहली बार स्वामीजी का साक्षात्कार तन्त्र-विद्या से हुआ।

एक राजपुरोहित ने स्वामीजी को अपने यहाँ भोजन के लिए निमन्त्रित किया। ब्रह्मचारी सहित वे अपने मेज़बान के घर की ओर चले। वहाँ तो कुछ और ही दृश्य था।

घर के बाहर मास और हड्डियों के टुकडे, पशुओ के भुने हुए रुड-मुड। पशुओ के सिरों पर चाकू-छुरी चलाते कुछ पडित। दुर्गंधयुक्त वातावरण। स्वामीजी का क्षुब्ध मन।

वे उलटे पैर लौट आए। सीधे अपने स्थान पर आकर साँस ली पीछे-पीछे

निमत्रणदाता भी चला आया।

'आप लौट क्यों आए, स्वामीजी ? मैंने तो आपके लिए तरह-तरह के मास के स्वादिष्ट पकवान बनवाए थे और साथ ही मदिरा का भी प्रबध किया था।'

'मास-मदिरा का सेवन मेरे लिए वर्जित है। मैं तो शाकाहारी-फलाहारी हूँ। यदि आपके पास फल हों तो भिजवा दीजिए।'

उनके लिए फल तो भिजवा दिए गए, पर बात अभी खत्म नहीं हुई थी। वह तो यही से शुरू होती है। वह राजपुरोहित स्वामीजी के पास रोज आने लगा और तत्र-विद्या की बातें करने लगा।

'आपने तात्रिक विद्या का अध्ययन किया है ?'

'नही।' दयानद ने कहा।

'मै आपके लिए कुछ पुस्तकें भेजूँगा।'

एक दिन वह पुरोहित पुस्तकों से लदा-फँदा आया और स्वामीजी के पास कुछ पुस्तकें छोड गया।

पुस्तक के एक पन्ने पर कुछ यूँ लिखा था—

'माता, भगिनी, कन्या, चूहडी, चमारी से सभोग करना धर्म है।'

'मद्य-मत्स्य-मास आदि का सेवन परम धर्म है।'

'मुद्रा-मैथुन से मोक्ष की प्राप्ति होती है।'

यह पहला अवसर था जब स्वामीजी के मन मे इस प्रकार के धूर्त, स्वार्थी और दुष्ट लेखकों के प्रति विद्रोह उत्पन्न हुआ और उन्होने निश्चय किया कि इस प्रकार के तत्र-ग्रंथों और साधुओ के वेश मे छिपे चांडालो के लिए कुठार-पाणि बनेगे। जब वे टिहरी से केदारघाट के एक मदिर मे विराजे तो वहाँ के साधु-सन्यासी भी तत्र-विद्या से अज्ञान स्वामीजी की खिल्ली उड़ाया करते। ऊपरी तौर पर वे लज्जित दिखाई पडते, लेकिन मन-ही-मन वे निश्चय कर चुके थे कि वे इन पाखंडों का खडन करेंगे।

केदारघाट, रुद्रप्रयाग और फिर अगस्त्य मुनि का समाधि-स्थल, जिसके साथ लगा शिवपुरी पर्वत। यहाँ शीत ऋतु के चार मास व्यतीत करने पर उनके रोम-रोम मे प्राकृतिक सौंदर्य रमने लगा। कल-कल करते सुंदर झरने, हिमाच्छादित पर्वत, पर्वतो पर सूर्य-किरण की रग-बिरगी रत्नजटित मुकुटमाला किस सवेदनशील हृदय को भाव-विभोर नही कर देगी।

गुप्तकाशी, त्रिगुणी नारायण, गौरी कुड, भीम गुफा आदि स्थान स्वामीजी की पर्वतीय यात्रा के महत्त्वपूर्ण पडाव हैं। उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि तथाकथित पडित-पुजारियो से दूर रहकर हिमाच्छादित शिखरों की यात्रा की जाए। वही हिमाच्छादित शिखर जहाँ तक पहुँचने के लिए छोटे छोटे हिमखड पाषाणों के अतिरिक्त कोई

पगडडी भी नही है। अत्यत कठिन और दुर्गम पहाड़ तथा सर्दी का प्रकोप। वे जानना चाहते थे कि शायद कही कोई सच्चा साधु किसी कंदरा मे छिपा बैठा हो। तुगनाथ पर पडित-पुजारियो के सिवा उन्हे कोई सच्चा साधु नही मिला। उनकी तरह-तरह की लीला देख वे बहुत दुखी हुए। वहाँ सिर्फ मंदिर-मूर्तिगान था और कुछ नही। वैसा ही शिवरात्रि वाला गान जिसने उनके किशोर मन को गृह-त्याग के लिए प्रेरित किया था।

कहीं कोई रास्ता नही, सभी मार्ग बंद। जंगल, पहाड और सूखे हुए नाले। वृक्षो की टहनियो को पकड-पकड, लटक-लटक देखा कि आसपास कुछ भी नहीं है। न रास्ता, न पगडंडी। उधर अस्ताचल को जाता सूर्य और इधर अधकार, जंगली जानवर, ठोकरे खाने का भय। वे भय से टटोल-टटोलकर रास्ता खोजने लगे। लेकिन ठोकरे खाने के सिवा कुछ हाथ नही लगा। उनके वस्त्रो को कॉटो ने छलनी कर दिया और उनका लौह-तन लहूलुहान हो गया। उन्होने बहुत दूर कही आग देखी। सोचा, यही कही बस्ती होगी। अंधकार की उँगली पकड़ वे आगे-आगे बढने लगे। वहाँ दो-चार लोगो से मुलाकात हुई। पता चला कि साथ वाली सडक ऊखी मठ को जाती है।

अब तक उन्होंने टिहरी की तत्र-विद्या ही जानी थी, अब वे मठाधीशो की 'लीला' भी जानना चाहते थे। उनके पैर अनायास ऊखी मठ की ओर बढने लगे। रास्ता भयकर। जब यात्री का मनोबल ऊँचा हो तो वहाँ हर तरह की विघ्न-बाधा टल जाती है। वे ऊखी मठ पहुँचे। वहाँ की पोप लीला और छोटे-बडे कारनामो ने उन्हे हिलाकर रख दिया।

महत ने उन्हें देखा, समझा और कहा, 'तुम हमारे चेले हो जाओ। जैसा हम कहे वैसा ही करो। हर तरह की सपत्ति तुम्हारी हो जाएगी। मेरे बाद इस मठ के महत तुम्ही बनोगे।'

दयानद ने महत को खरी-खोटी सुनाई, 'मै महंत बनना नही चाहता। यदि मेरी यही कामना होती तो मै माता-पिता, बधु-बाधव, कुटुब-परिवार कदापि नही छोडता। मैन जिस चीज़ के लिए अपना घर तजा है वह आपके पास कदापि नही है।'

'ऐसी कौन-सी बात है जिसके लिए तुमने घर तज दिया है ?' महतजी ने पूछा।

'मै विद्या, योग, मुक्ति और अपनी आत्मा का पवित्र रूप देखना चाहता हूँ। क्या आप दिखा सकेगे ?' स्वामीजी ने प्रश्न किया।

अनुत्तरित महंतजी उनसे इतना ही कह सके, 'तुम कुछ दिन तो इस मठ में रहो।'

स्वामीजी ने कुछ भी उत्तर नही दिया और अपनी राह खोजने के लिए प्रात.काल जोशी मठ के लिए प्रस्थान किया। वहाँ बहुत से विद्वान् और साधु-सतो से उनकी भेट हुई। उनसे वार्तालाप हुआ और ज्ञान-ध्यान की अनेक बातों से साक्षात्कार हुआ।

स्वामीजी एक बार फिर बद्रीनाथ गए। रावलजी अत्यंत विद्वान् महत थे उन मदिर के। कई दिन तक उन दोनो में वेदो और दर्शन-शास्त्रो पर वाद-विवाद होता रहा। स्वामीजी के मन मे अनेक प्रश्न उमड़ने-घुमडने लगे। उनमे से एक प्रश्न ने उन्हें व्यथित कर दिया, जो इस प्रकार था, क्या इस पर्वत प्रदेश में कोई सच्चा विद्वान् और योगी भी है ?' महतजी ने शोक प्रकट करते हुए केवल इतना कहा कि इस प्रदेश में सच्चा योगी कहीं नही है।

स्वामीजी ने एक और भीष्म प्रतिज्ञा कर ली कि वे समस्त राज्यों और पर्वत-प्रदेशों मे घूम-घूमकर सच्चा योगी खोज निकालेंगे। उनकी यह खोज अगली सुबह सूर्योदय के साथ ही शुरू हो गई थी। एक के बाद एक पर्वतो की हिमाच्छादित उपत्यकाओ को लॉघते हुए वे अलकनदा के तट पर जा पहुँचे। बर्फीली ठडी हवाएँ, घना जगल और तीव्र धारा वाली वेगवती नदी। कभी वे नदी पार करने की सोचते और कभी नदी के साथ-साथ जाने का मन बनाते। अतत नदी की गति के साथ-साथ नदी की ओर हो लिए। पर्वतीय मार्गों और ऊँचे-ऊँचे टीलो ने बर्फ के सफ़ेद वस्त्र धारण किए हुए थे। चारो ओर बर्फ ही बर्फ़। बर्फ़ के सिवा कुछ भी नहीं। उन्होंने देखा कि बर्फ़ ने सभी रास्ते बंद कर रखे हैं। उन्हें कोई भी रास्ता दिखाई नही दिया। लगातार चलते-चलते थकान और भूख का आक्रमण। नाममात्र के वस्त्रो से अपनी काया की उन्हे रक्षा भी करनी थी। वस्त्रो के अनुपात में सर्दी बहुत ज़्यादा थी, लेकिन उसे तो सहन करना ही था। उन्होंने बर्फ़ के छोटे-छोटे टुकड़े खाए। सोचा कि उससे भूख और प्यास दोनो का निवारण हो सकेगा। परंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ। वे वैसे ही भूखे-प्यासे थे और सर्दी से ठिठुर रहे थे।

वे नदी में एक बार फिर से उतरे—थकान और भूख-प्यास को साथ लेकर। अलकनदा बर्फ के छोटे-बड़े टुकड़ो से भरी हुई थी। चार से दस हाथ तक की गहराई। ठडा जल और बर्फ़ के टुकड़े। इस भयकर नदी को पार करते हुए स्वामीजी के बलिष्ठ शरीर में जगह-जगह घाव हो गए और रक्तस्राव होने लगा। हाथ-पैर इतने सुन्न हो गए कि वे बार-बार अचेतावस्था मे पहुँच जाते। उन्होंने पूरी कोशिश की कि नदी के रौद्र रूप का सामना कर किसी तरह वे उस पार पहुँच जाएँ। ऐसा हुआ भी। वे सकुशल-समगल अलकनंदा के पार पहुँच गए। तब तक वे पूर्णत अशक्त हो चुके थे। उन्होने जैसे-तैसे शरीर के ऊपरी भाग से वस्त्र उतार अपने पैरों और जंघाओ पर डाल लिए। अब वे उठने तक को भी अशक्त थे। वे इधर-उधर सहायता खोज रहे थे, पर निपट घने जगल और बर्फ़ीले प्रदेश में कहाँ से मिलेगी सहायता ? अचानक उन्हे दो पुरुषाकृतियाँ दिखाई दी। समीप आकर उन्होने कहा, 'हमारा प्रणाम स्वीकार करें आप हमारे घर चलिए भोजन करिए और उसके बाद विश्राम हम आपको

सिद्धपत्त नामक तीर्थ-स्थान पर भी ले चलेंगे।'

शिष्ट भाषा में अस्वीकार करते हुए स्वामीजी ने कहा, 'मुझमे चल पाने की शक्ति नही है। इसलिए मै आपका निमंत्रण स्वीकर नही कर सकता।'

बहुत कुछ कहने-सुनने के बाद वे दोनो आकृतियाँ पर्वतो की कदराओ में धीरे-धीरे विलीन हो गई। धरती के बर्फीले बिछौने पर उन्होंने विश्राम किया। शांत-स्निग्ध नीलाकाश को उन्होंने निहारा और मन-ही-मन वापस जाने की योजना बनाई। रास्ते मे माना नाम का गाँव और गाँव के भोले-भाले लोग और अपने ज़ख़्मों की परवाह न करते हुए बद्रीनारायण की ओर लौटते दयानद।

सुबह का चलता सूरज ढल चुका था और रात्रि के आठ बज चुके थे। रावल जी का घबराहट के मारे बुरा हाल था। इस जगल में उस स्वामी को कहाँ ढूँढ़ा जाए।

स्वामीजी को देखते ही वे प्रसन्नता के सागर मे डूब गए। फिर आत्मीयतापूर्वक पूछा, 'तुम कहाँ चले गए थे ?'

स्वामीजी की साहसपूर्ण कथा सुनकर वे विस्मित हुए। दोनो ने मिलकर भोजन किया। भोजन से स्वामीजी को शांति-शक्ति प्राप्त हुई। रात्रि के कुछ पल गहरी नींद में चले गए। अगली सुबह उन्होंने रावलजी से अगली यात्रा करने की अनुमति माँगी। वे उन्हें कह भी क्या सकते थे । किसी यात्री को कभी कोई रोक पाया है क्या ? उन्होंने अश्रुपूरित नेत्रो से स्वामीजी को विदा किया, उनके सुखद-सुमगल भविष्य की कामना की। वे तब तक टकटकी बाँधे स्वामीजी को देखते रहे जब तक वे उनकी आँखो से ओझल न हो गए।

'अब रामपुर चला जाए।' स्वामीजी उसी दिशा चल पडे। कैसा था यह अद्भुत यात्री जो मुसीबतो, आपदाओ की भयंकर नदी लाँघता रहा और अपने गतव्य की ओर बढ़ता रहा। कई घाटियो और पर्वतो को पार करने के बाद दयानद चिलका घाटी पहुँचे और वहाँ से रामपुर। रामपुर में उनकी भेट एक योगी से हुई। उनके साथ गभीर और दार्शनिक विचारो का आदान-प्रदान होना, योग-विषयक चर्चाएँ होतीं। उन योगी का विचित्र स्वभाव था। वे दिन मे बातचीत करते, रात्रि को चीखते-चिल्लाते। दयानद जी को पता चल गया कि वह योगी बहुत दूर है योग-विद्या से। फिर वहाँ से काशीपुर और काशीपुर से द्रोण-सागर की ओर प्रस्थान।

द्रोण-सागर की शरद् ऋतु ! कभी ध्यानस्थ होते और कभी अध्ययन करते स्वामीजी एक ऊहात्मक स्थिति से गुज़र रहे थे। उनकी बलवती इच्छा हुई कि 'हिमालय पर्वत पर जाकर देह-त्याग करना चाहिए।' लेकिन दूसरी बार वे सोचते कि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् ही यह कर्म करना चाहिए। दूसरे विचार ने पहले वाले पर विजय प्राप्त कर ली और वे सभल मुरादाबाद तथा गढमुक्तेश्वर होते हुए पुन

गगातट पर जा विराजे। उनके पास कुछ धार्मिक पुस्तकें थी, जिनमें शिव संध्या, हठयोग प्रदीपिका थी। यात्रा के दौरान वे इनका अध्ययन किया करते।

कुछ पुस्तकों का केंद्रबिंदु नाड़ी-चक्र था। यह विषय बहुत गभीर था। कुछ कभी समझ मे आता और कभी नहीं।



'मै बहुत थक गया हूँ।' दयानद सोचते।

'मै इन्हे कभी भी समझ नही पाऊँगा।'

'पता नही यह चक्र-विद्या सत्य भी है या नही।'

'मेरा सशय कभी दूर नही होगा।'

इस तरह के कई प्रश्न दयानंद के मन मे उमडते-घुमडते, पर उनका उत्तर देने वाला कोई नहीं था, सिवा उनके मन के। उस समय उनके मन के पास भी कोई उत्तर नही था।

शव-परीक्षण

नाडी-चक्र पर विचारार्थ वे कभी गंगातट पर जा बैठते और कभी गगा की बालू पर जाकर ध्यानस्थ हो जाते। एक बार उन्होंने गगा मे एक शव बहता देखा, वे बहुत प्रसन्न हुए।

'इस शव का परीक्षण करना चाहिए। उन पुस्तको मे लिखी बाते सत्य है या नहीं—अभी पता चल जाएगा।'

उन्होंने वे पुस्तके तट पर रखीं और गगा में कूद पड़े। शव को गंगातट पर ले आए। वे कभी पुस्तके पढ़ते और कभी शव को देखते। तेज धार वाले चाकू से उन्होंने शव को काटना शुरू किया और सावधानी से हृदय को बाहर निकाल लिया। बाद में सिर-ग्रीवा के सूक्ष्म अंगों को काट निकाला। बहुत ध्यानपूर्वक उन्होंने हृदय और अन्य नाडियों का परीक्षण किया। पुस्तको मे वर्णित इन अंगो और शव मे देखे गए अग-अग मे किसी प्रकार की भी समानता नहीं थी।

'यह क्या हो रहा है मुझे ? कुछ भी तो मिलता-जुलता नहीं है।'

उन्होने पुस्तकों के पन्ने फाड़-फाड़कर गगा नदी में बहा दिए और साथ ही शव के उन अगो को भी नदी में फेक दिया जिनका परीक्षण किया गया था। उस समय उनकी स्थिति जरूर स्थितप्रज्ञीय रही होगी, तभी उन्होने शव का परीक्षण किया होगा असपृक्त रहकर।

'केवल वेद, उपनिषद्, पातंजल और सांख्य-शास्त्र ही सत्य हैं। अन्य ज्ञान-विज्ञान की मूर्खतापूर्ण पुस्तके मिथ्या असत्य और अशुद्ध है।'

इनका भी मिथ्या है जरूर किसी पोंगापथी ने इनकी रचना की

होगी।'

यह उनके हृदय-शख का पहला नाद था जो हिमालय की एक वर्ष की यात्रा के बाद का निर्णय था, जो सवत् 1912 और सन् 1855 मे लिया गया था।

हिमालय के दुर्गम, अगम्य, सकटीय, कष्टप्रद रास्तो पर भटकने के बाद उन्हे वह प्राप्त नही हुआ जिसकी उन्हे चाह थी। इन कंदराओं मे उनके तन-मन पर गहरे आघात हुए। हर तरफ पोपलीला, साधुओ के वेश मे पनपता भ्रष्टाचार, मासाहार, मैथुन दंभ, मिथ्या अहकार, तत्र-मत्र और ढेर सारे लुभावने पाखंड। उसमे भटकती भोली-भाली जनता। हिमालय पर्वत पर भी उन्हें चैतन्य शिव के दर्शन नही हुए। तो कहॉ रहते होंगे वे शिव, जिनकी अस्मिता की उन्हे चाह थी ? न चैतन्य, न सत्य और न ही सच्चा योगी।

दयानद इन सबकी तलाश मे अपने लिए खुद रास्ता बनाते-बनाते कभी थककर आत्महत्या की बात सोचते और कभी निरंतर चलने की बात सोचते, क्योकि चलते रहने के सिवा और कोई चारा नही था।

कही रीछ, कही भालू, कहीं शेर और कही पर्णकुटीवासी। यदि मन निर्मल हो तो ये हिंस्र पशु भी अपनी हिसा तज सीधी राह पर चलने लगते हैं—स्वामीजी ने निर्णय किया, अनुभव किया। इस तरह वर्ष समाप्त हो गया, लेकिन उनकी यात्रा नैरतर्य धारण किए रही। स्वामीजी को वहॉ पहुॅचना था, जिसके लिए उन्होंने घर-बार का त्याग किया था।

काशी-प्रवास

कानपुर, मिर्जापुर होते हुए काशी की ओर प्रस्थान। 1913 की असूज सुदी 2। जब वे दुर्गाकुंड के मंदिर पहुॅचे। यहॉ के प्रवास में उन्होंने चावल आदि अन्न का पूर्णत. त्याग कर दिया, दुग्धाहारी रहकर दिन-रात योग-विद्या का अभ्यास करने लगे। वे अपनी आत्मिक क्षुधा को शांत करने के लिए उसके अनुरूप भोजन तलाशने लगे। तन की क्षुधा उनके सामने कुछ भी नहीं थी। मन तो मन है, कभी भटकता और कभी सीधे रास्ते पर चलता है। कठिन रास्तो पर चलते-चलते स्वामीजी को अचानक एक दुर्व्यसन लग गया था और वह था भॉग पीने का। भॉग पीने के बाद वे अचेत हो जाते।

एक बार वे मदिर से निकल पास के शिवालय में पहुँचे। थके हुए तो थे ही, वे सो गए। सपने में उन्होंने शिव-पार्वती को देखा जो उनके बारे मे ही बातचीत कर रहे थे।

अच्छा होता यदि दयानद विवाह कर लेता पार्वती ने शिव से कहा

लेकिन शिवजी ने कहा, 'नहीं। उसने इतनी साधना की है।'

'फिर वह भॉग क्यो पीता है ?'

इससे पहले कि शिवजी पार्वती की बात का उत्तर देते, दयानद की नीद खुल गइ। उन्होने खुद को खूब धिक्कारा और रोष प्रकट किया। मन-ही-मन निर्णय किया कि वे भॉग नहीं पिएँगे।

वरुणा और गंगा के संगम-स्थल के पास वाली गुफा मे स्वामीजी ने एक अँधेरी गुफा को अपना निवास बनाया। लेकिन उनका मन नहीं लगा और वे नर्मदा के उद्गम स्रोत की ओर चल पड़े।

1914 का चैत्र मास। स्वामीजी ने वहॉ तक पहुॅचने के लिए किसी से भी रास्ता नही पूछा। उजाड निर्जन वन और पर्वत ही पर्वत। उजाड़ और धूलि-धूसरित झोपडियॉ और आबादी का कोई नामोनिशान नही। एक झोपडी मे किसी वृद्धा के यहॉ जाकर स्वामीजी ने दुग्धपान किया और आगे की ओर बढ चले। आगे कुछ नही था सिवाय अलग-अलग जाने वाली पगडडियो के। उन्होंने अपनी इच्छा से एक पगडडी चुनी और कोस भर चलने के बाद एक निर्जन वन में पहुॅच गए। वहॉ बेरियो के झाड, लबी-लबी घास। यही उनका मुकाबला एक रीछ से हुआ जो उन पर झपटा। उसे न जाने क्या सूझा और वापस चला गया। उसकी चिंघाड़ से आसपास चौंक गया। कुछ लोग शिकारी कुत्तों को साथ लेकर उनकी रक्षार्थ आए। उन्होने आगे के खतरों से आगाह किया और कहा, 'आगे जाना खतरे से खाली नही हैं। यहॉ जंगली जानवर बहुत हैं। आप हमारे साथ चलिए।'

'मुझे शेर, हाथी आदि का कोई भय नही है। मैं किसी तरह नर्मदा के दर्शन करना चाहता हूँ।'

कैसा होगा वह दयानद जिसने 'सत्यार्थप्रकाश' लिखने से पहले प्रकृति के सौम्य-रौद्र रूप के दर्शन किए। उनका मनोबल इतना ज्यादा था कि वे अधकार को चीरते हुए यात्रा करने लगे। उन्हे दूर-दूर तक कोई आदमी नही दिखाई दिया। वृक्षो के नाम पर भी वृक्ष और इनसानों के नाम पर भी वृक्ष। वे एक घने जंगल में प्रवेश करना चाहते थे, लेकिन कॉटेदार बेरियॉ एक-दूसरे से इस प्रकार सटी थी कि उन्हे अलग कर वन मे प्रवेश करना असभव था। लेकिन पेट के बल लेटकर जानू के सहारे सर्पवत् रेंगते हुए वह दुर्गम बाधा दूर की। उनका शरीर स्थान-स्थान पर लहूलुहान हो गया और छिल गया, लेकिन उन्होंने उस पीडा को सहन कर लिया। मृत्यु-पीडा से मुक्ति के सामने यह पीडा तो कुछ भी नही थी। अंधकार के सिवा स्वामीजी को कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था लेकिन वह थे कि शायद इस घने अधकार मे कुछ सुझाई द जाए पग-पग पर रास्ते वे ऊँचे-ऊचे पहाडों के पास पहुॅचे

बहुत सेवा किया करते थे। कमरे की सफाई, जल भरकर लाना और गुरुजी को स्नान कराना आदि-आदि। एक बार दयानद ने ठीक से झाड़ू नही लगाई। गुरुजी के नग्न पॉवों मे धूल लग गई। उन्होने शिष्य को पुकारकर कहा, 'अरे दयानद ! तुम ठीक से झाड़ू नही लगा सकते, अध्ययन क्या करोगे ?' उसके बाद दयानद ने गुरु-सेवा मे भी उतना ही मन लगाया जितना अध्ययन मे।

अब तक दयानंद बहुत अनुभव प्राप्त कर चुके थे। कष्टप्रद यात्राओं ने उन्हे गहरी सीख दी। पडितो-पुजारियों, साधु-सतो, भोली-भाली जनता और अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथो के अध्ययन ने उन्हे पाडित्यपूर्ण सच्चा अनुभव प्रदान किया। वे असाधारण शिष्य थे और गुरुकृपा के प्रबल समर्थक। विरजानंदजी के सान्निध्य में रहकर उन्होने महाभाष्य, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र और वेद-वेदाग का अध्ययन किया। वे बहुत ही विनम्र, सोम्य और तीक्ष्ण बुद्धि के स्वामी थे। ढाई वर्ष के अल्प समय मे ही उन्होने बहुत ज्ञान प्राप्त किया।

अपना अध्ययन संपन्न करने के पश्चात् विदा-वेला में दयानंद ने गुरु-चरणो मे दक्षिणास्वरूप लौंग भेट कर अश्रुपूरित होकर कहा, 'गुरुजी, आज्ञा दीजिए।' वे कौन-सी आज्ञा चाहते थे। वहाँ से जाने की आज्ञा या भविष्य मे उचित काम करने की आज्ञा ?

गुरुजी की गुरु-गंभीर वाणी अजस्र धारा-सी फूट पडी—'जाओ दयानंद ! आर्य-ग्रथो की महिमा स्थापित करो और अनार्य-ग्रथो की धज्जियॉ उडाओ। मैं तुमसे तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ दयानद।'

'तथा अस्तु गुरुदेव !'

इतना कहकर दयानद शंखनाद करने को निकल पड़े। जिसके जीवन का उद्देश्य निरतर चलना हो वह कभी कहीं रुक सकता है क्या ? नदी हमेशा बहती है—हिमालय से लेकर सागर तक, पर उसके तट बदलते रहते है।

वे आगरा होते हुए ग्वालियर पहुँचे। अपने सिद्धातो को व्यवहार मे कैसे लाया जाए और कहॉ से शुरू किया जाए, यही उनके सामने समस्या थी। जब चारों ओर गोल धरती पर अनाचार ही अनाचार हो तो प्रारभ और अंत का पता ही नही चलता। भले ही उन्होंने वैष्णव मतानुयायी हरिश्चद्र को शास्त्रार्थ मे पराजित कर शैव मत की स्थापना कर ली हो, पर अभी तक उनके मन मे यह दुविधा बनी हुई थी कि क्या वास्तव मे ही शैव मत श्रेष्ठ है ? वे चैतन्य शिव के दर्शन करना चाहते थे, उस शिव का दर्शन जो कैलासवासी तो है पर पार्वती का पति नहीं है। क्या वैदिक मत ही शिव मत से श्रेष्ठ है ? वे एक बार फिर मथुरा आए, गुरुजी से भेट की, अपनी दुविधा से अवगत कराया। इस बार के विचार-विमर्श के पश्चात् दयानद यह निर्णय ले चुके थे कि उन्हे क्या करना है। विरजानदजी ने अपने शिष्य के हृदय-कलश को इस भॉति

गढ़ा-माँजा, चमकाया कि आने वाले समय के बहुत बाद भी उनकी कांति ज्यों-की-त्यों बनी रही।

विद्याध्ययन के लगभग चार वर्ष पश्चात् 1867 में वे हरिद्वार पहुँचे। यूँ तो वे इससे पहले भी हरिद्वार में कुंभ मेले में आ चुके थे। अब उन्हें यह मालूम था कि उन्हें क्या करना है और किस तरह करना है। वे असत्य का खंडन और सत्य का प्रचार करने में जुट गए।

क्या कोई जान सकता है कि नवजागरण काल के इस पुरोधा को विद्याध्ययन में कितना कष्ट उठाना पड़ा? वे बहुत सवेरे उठकर स्नानादि से निवृत्त हो, संध्योपासना में निमग्न हो ब्राह्मों और विद्यार्थियों को भी उपदेश देते थे। आगन्तुकों के साथ संस्कृत में बातचीत करना, कंठी-मालादि धारण करने का विरोध करना, आसन-व्यायाम करने के बाद गुरु-सेवा में उपस्थित हो अध्ययन करना कितना कठिन होगा? विशेष रूप से तब जबकि वे अपना सब कुछ तज चुके थे। रात्रि को पठन-पाठन में व्यय होने वाले तेल का खर्च उनके दानी मित्र का चार आने मासिक देना उन्हें किस कदर कृतज्ञता के बोझ तले दबा देना होगा। इसी मित्र अमरलाल ने उन्हें भोजन और अध्ययन आदि के लिए ग्रंथ जुटाए थे।

क्या यह कोई अनुभव कर सकता है कि अपने अखंड ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए उन्होंने कौन-कौन-सी तपस्या की होगी? स्वामी दयानंद की जय बोलने में क्या जाता है? फिर भी आज के आर्यसमाजी इसके लिए भी शर्माते और आनाकानी करते हैं। गुरुजी के लिए बीस घड़े जल भरकर लाना, वह भी यमुनाजी से, यह कोई आसान काम नहीं था। उनका मुखमंडल तप्त-ताम्र कुंदन-सुवर्ण की भाँति उद्दीप्त हो चुका था। क्या उस अमूल्य कुंदन की पहचान हो पाई? यही प्रश्न मुझे बार-बार झकझोरते रहते हैं। अस्तु!

कुंभ मेले की धूमधाम। स्वामीजी ने धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों का धुआँधार खंडन किया। उन्होंने किसी कंठीधारी को कहा, 'महाराज! आप इस कंठी का क्या बखेड़ा डाले हैं अपने गले में? इसे आप उतार क्यों नहीं देते?' उन्होंने तत्काल कंठी गले से उतार दी। देखा-देखी सैकड़ों लोगों ने कंठी उतार दी, क्योंकि स्वामीजी के अनुसार—'यह अवैदिक चिह्न है।'

'और वैदिक चिह्न कौन-सा है?' प्रश्न पूछा जाता और उत्तर होता, 'यज्ञोपवीत [illegible] चिह्न है। इसे धारण करना प्रत्येक मानव का परम धर्म है। इसे धारण किए [illegible] भी धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता।'

[illegible]ही देखते-ही-देखते यज्ञोपवीत धारण करने के लिए सैकड़ों मनुष्य [illegible]मी दयानंद द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना तो महासौभाग्य था

जहाँ से कोई रास्ता आगे नहीं जाता था। वहाँ पर ओषधियों-वनस्पतियों की सुगंध से उन्होंने अनुमान लगाया कि यहाँ आसपास ही कोई-न-कोई बस्ती जरूर होगी।

उस अंधकारपूर्ण वातावरण में कैसे देख पाया होगा आसपास की बस्तियाँ। झोपड़ियों और कुटियाओं के इर्द-गिर्द गोबर-उपलों के ढेर। स्वच्छ जल वाली एक छोटी-सी नदी, नदी तीर चरती हुई बकरियाँ। टूटी-फूटी झोपड़ियों की दरारों-दरवाजों से छनकर आता प्रकाश। यह कहना कल्पनातीत है। स्वामीजी उस विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गए जिसने एक छोटी-सी झोंपड़ी को अपनी बाँहों में भर रखा था। प्रातः नदी में स्वामीजी ने अपने क्षत-विक्षत हाथ-पाँव और धूलि-धूसरित शरीर को स्वच्छ किया तो उन्हें अचानक ही कोई गर्जना सुनाई पड़ी। स्त्री-पुरुष-बालकों का एक समूह था वह। शायद किसी धार्मिक अनुष्ठान को पूरा करने के पश्चात् लौट रहा था।

उन्हें अनजान-अजनबी देखकर एक वृद्ध ने उनसे पूछा, 'आप कौन हैं और कहाँ से आए हैं ?'

'मैं काशी से आया हूँ और नर्मदा-स्रोत की ओर जा रहा हूँ।' स्वामीजी ने कहा। वे अपनी उपासना में निमग्न हो गए।

एकाध घंटे बाद दो-तीन पर्वतीय पुरुष उन्हें अपने यहाँ चलने का निमंत्रण देने आए, लेकिन स्वामीजी ने निमंत्रण अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे मूर्तिपूजक थे। वे किसी भी तरह की मूर्तिपूजा को स्वीकार करने वाले नहीं थे। मूर्तिपूजा का विरोध उनका दूसरा शंखनाद था। शिवरात्रि की घटना उनके सामने आ खड़ी हुई। पर्वतीय पुरुषों ने दो आदमियों को रात-भर आग जलाने का आदेश दिया और कहा कि इनकी रात-भर सुरक्षा करते रहो। जब उनसे भोजन के लिए पूछा गया तो उन्हें मालूम पड़ा कि स्वामीजी केवल दूध पीते हैं। उनका तुंबा ले घर से दूध ले आए। स्वामीजी थक चुके थे। वे गहरी नींद में सोए और अगली सुबह वे अपनी यात्रा के लिए चल पड़े।

ऐसा लगता है कि स्वामीजी नर्मदा की यात्रा के बाद लौटे होंगे। कई तीर्थों का दर्शन किया होगा। काशी लौटे होंगे और गुरु विरजानंदजी की कीर्ति सुनी होगी और उनकी शरण में मथुरा पहुँचे होंगे। इस प्रकार स्वामीजी ने पर्वतों, शिखरों, कंदराओं, नदियों और बर्फों के कष्ट को सहन करते हुए तीन वर्ष बिता दिए होंगे और बाद में अपनी दुनिया में धूनी रमाते विरजानंद के पास पहुँचे होंगे।

विरजानंद की शरण में

अब मैं अपने पाठकों को विरजानंदजी के आश्रम में लिए चलती हूँ, जहाँ जाकर दयानंद ने सच्चे गुरु से ढेर सारा ज्ञान अर्जित कर पाखंड-खंडिनी पताका फहराई

पंजाब का एक गाँव करतारपुर, करतारपुर के पास कपूरथला, कपूरथला के लग-भग बहने वाली वेई नदी। नदी-तट वासी नारायणदत्त नामक सारस्वत ब्राह्मण। उन्हीं के यहाँ विरजानंद का जन्म हुआ। जन्म के पाँचवें वर्ष उन पर शीतला का प्रकोप हुआ जिसमें उनकी आँखें जाती रहीं। ग्यारह वर्ष की आयु में ही उनके माता-पिता का निधन हो गया। मातृ-पितृविहीन उस नेत्रहीन बालक पर बड़े भाई ने बहुत अत्याचार किए। स्वबंधुओं के सताने पर घर छोड़ने को विवश विरजानंद ऋषिकेश चले गए। गंगा-जल में बैठकर वे गायत्री-जप किया करते थे। यहीं उन्होंने व्याकरण और वेदों का अध्ययन किया। सबसे पहले उन्होंने अलवर-नरेश विनय सिंह को विद्या-दान दिया। जयपुर के महाराजा रामसिंहजी भी उनके शिष्यों में से एक थे। गुरुजी केवल दुग्धाहार करते, विद्यार्थियों को पढ़ाते। वे अपनी अद्भुत स्मरणशक्ति के कारण दूर-दूर तक विख्यात थे। उन्हें अनेक ग्रंथ कंठस्थ थे। निरुक्त, अष्टाध्यायी और महाभाष्य में उन्हें महारत हासिल थी।

मथुरा रेलवे स्टेशन से यमुना के विश्रामघाट तक जो राजपथ है उसी के आसपास एक छोटी-सी अट्टालिका में प्रज्ञाचक्षुजी विराजा करते थे। वे संस्कृत और आर्ष ग्रंथों के प्रकांड पंडित थे।

सन् 1860, मास नवंबर। किसी आगंतुक ने प्रज्ञाचक्षुजी के द्वार पर दस्तक दी। पूछा गया 'कौन ?'

'यही तो मैं जानने आया हूँ कि मैं कौन हूँ ?' दस्तक देने वाले दयानंद थे। विरजानंदजी को सच्चे शिष्य की तलाश थी। उनकी आयु उस समय 81 वर्ष की थी और शिष्य की आयु 26 वर्ष।

द्वार खुल गए। गुरु और शिष्य दोनों के हृदय-द्वार '

फिर पूछा, 'क्या पढ़े हो ?'

दयानंदजी ने शास्त्रों के नाम गिनाए।

'जाओ इन्हें यमुना में फेंक आओ।'

शायद गुरुजी ऐसा शिष्य चाहते थे जो अहंकार, पांडित्यरहित हो।

एक ज्ञान-दान देने में और दूसरा उसे प्राप्त करने में निमग्न हो गया। अत्यंत श्रद्धापूर्वक गुरुजी को नमस्कार कर दयानंद ने अध्ययन प्रारंभ किया। गुरुजी वेदादि ग्रंथों का सम्मान और भागवतादि पुराणों की निंदा करते थे। वे अनुशासनप्रिय थे। शारीरिक ताड़ना देने में भी नहीं चूकते थे। एक बार पाठ भूल जाने से उन्होंने दयानंद पर तमाचा जड़ दिया। वे लज्जित होकर गुरुजी से कहने लगे, 'गुरुजी, मेरा शरीर तो लोहे का है। आपके कोमल हाथ को कहीं पीड़ा तो नहीं हुई ?' और वे गुरुजी का हाथ दबाने लगे गुरुजी के नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली शिष्य अपने गुरुजी की

बहुत सेवा किया करते थे। कमरे की सफाई, जल भरकर लाना और गुरुजी को स्नान कराना आदि-आदि। एक बार दयानद ने ठीक से झाडू नहीं लगाई। गुरुजी के नग्न पाँवों में धूल लग गई। उन्होंने शिष्य को पुकारकर कहा, 'अरे दयानद ! तुम ठीक से झाडू नहीं लगा सकते, अध्ययन क्या करोगे ?' उसके बाद दयानंद ने गुरु-सेवा में भी उतना ही मन लगाया जितना अध्ययन में।

अब तक दयानद बहुत अनुभव प्राप्त कर चुके थे। कष्टप्रद यात्राओं ने उन्हें गहरी सीख दी। पंडितों-पुजारियों, साधु-सतों, भोली-भाली जनता और अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथों के अध्ययन ने उन्हें पांडित्यपूर्ण सच्चा अनुभव प्रदान किया। वे असाधारण शिष्य थे और गुरुकृपा के प्रबल समर्थक। विरजानदजी के सान्निध्य में रहकर उन्होंने महाभाष्य, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र और वेद-वेदांग का अध्ययन किया। वे बहुत ही विनम्र, सौम्य और तीक्ष्ण बुद्धि के स्वामी थे। ढाई वर्ष के अल्प समय में ही उन्होंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया।

अपना अध्ययन सपन्न करने के पश्चात् विदा-वेला मे दयानद ने गुरु-चरणों में दक्षिणास्वरूप लौंग भेंट कर अश्रुपूरित होकर कहा, 'गुरुजी, आज्ञा दीजिए।' वे कौन-सी आज्ञा चाहते थे। वहाँ से जाने की आज्ञा या भविष्य में उचित काम करने की आज्ञा ?

गुरुजी की गुरु-गंभीर वाणी अजस्र धारा-सी फूट पडी—'जाओ दयानद ! आर्य-ग्रथों की महिमा स्थापित करो और अनार्य-ग्रथों की धज्जियाँ उडाओ। मैं तुमसे तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ दयानद।'

'तथा अस्तु गुरुदेव !'

इतना कहकर दयानद शखनाद करने को निकल पड़े। जिसके जीवन का उद्देश्य निरंतर चलना हो वह कभी कहीं रुक सकता है क्या ? नदी हमेशा बहती है—हिमालय से लेकर सागर तक, पर उसके तट बदलते रहते हैं।

वे आगरा होते हुए ग्वालियर पहुँचे। अपने सिद्धातों को व्यवहार में कैसे लाया जाए और कहाँ से शुरू किया जाए, यही उनके सामने समस्या थी। जब चारों ओर गोल धरती पर अनाचार ही अनाचार हो तो प्रारभ और अंत का पता ही नहीं चलता। भले ही उन्होंने वैष्णव मतानुयायी हरिश्चद्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर शैव मत की स्थापना कर ली हो, पर अभी तक उनके मन में यह दुविधा बनी हुई थी कि क्या वास्तव में ही शैव मत श्रेष्ठ है ? वे चैतन्य शिव के दर्शन करना चाहते थे, उस शिव का दर्शन जो कैलासवासी तो है पर पार्वती का पति नहीं है। क्या वैदिक मत ही शिव मत से श्रेष्ठ है ? वे एक बार फिर मथुरा आए, गुरुजी से भेंट की, अपनी दुविधा से अवगत कराया। इस बार के विचार-विमर्श के पश्चात् दयानंद यह निर्णय ले चुके थे कि उन्हें क्या करना है। विरजानदजी ने अपने शिष्य के हृदय-कलश को इस भाँति

गट्ठ-मांजा चमकाया कि आने वाले समय के बहुत बाद भी उसकी कांति ज्यों-की-त्यों बनी रही।

विद्याध्ययन के लगभग चार वर्ष पश्चात् 1867 में वे हरिद्वार पहुँचे। यूँ तो वे इससे पहले भी हरिद्वार में कुंभ मेले में आ चुके थे। अब उन्हें यह मालूम था कि उन्हें क्या करना है और किस नष्ट करना है। वे असत्य का खंडन और सत्य का प्रचार करने में जुट गए।

क्या कोई जान सकता है कि नवजागरण काल के इस पुरोधा को विद्याध्ययन में कितना कष्ट उठाना पड़ा ? वे बहुत सवेरे उठकर स्नानादि से निवृत्त हो, सध्योपासना में निमग्न हो जाते और विद्यार्थियों को भी उपदेश देते थे। आगंतुकों के साथ संस्कृत में बातचीत करना, कंठी-मालादि धारण करने का विरोध करना, आसन-व्यायाम करने के बाद गुरु-सेवा में उपस्थित हो अध्ययन करना कितना कठिन होगा ? विशेष रूप से तब जबकि वे अपना सब कुछ तज चुके थे। रात्रि को पठन-पाठन में व्यय होने वाले तेल का खर्च उनके दानी मित्र का चार आने मासिक देना उन्हें किस कदर कृतज्ञता के बोझ तले दबा देता होगा ! इसी मित्र अमरलाल ने उन्हें भोजन और अध्ययन आदि के लिए ग्रंथ जुटाए थे।

क्या यह कोई अनुभव कर सकता है कि अपने अखंड ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए उन्होंने कौन-कौन-सी तपस्या की होगी ? स्वामी दयानंद की जय बोलने में क्या जाता है ? फिर भी आज के आर्यसमाजी इसके लिए भी शर्माते और आनाकानी करते हैं। गुरुजी के लिए बीस घड़े जल भरकर लाना, वह भी यमुनाजी से, यह कोई आसान काम नहीं था। उनका मुखमंडल तप्त-ताम्र कुंदन-सुवर्ण की भाँति उद्दीप्त हो चुका था। क्या उस अमूल्य कुंदन की पहचान हो पाई ? यही प्रश्न मुझे बार-बार झकझोरते रहते हैं। अस्तु !

कुंभ मेले की धूमधाम। स्वामीजी ने धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों का धुआँधार खंडन किया। उन्होंने किसी कंठीधारी को कहा, 'महाराज ! आप इस कंठी का क्या बखेड़ा डाले हैं अपने गले में ? इसे आप उतार क्यों नहीं देते ?' उन्होंने तत्काल कंठी गले से उतार दी। देखा-देखी सैकड़ों लोगों ने कंठी उतार दी, क्योंकि स्वामीजी के अनुसार— यह अवैदिक चिह्न है।'

'और वैदिक चिह्न कौन-सा है ?' प्रश्न पूछा जाता और उत्तर होता, 'यज्ञोपवीत वैदिक चिह्न है। इसे धारण करना प्रत्येक मानव का परम धर्म है। इसे धारण किए बिना कोई भी धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता।'

यह सुनते ही देखते-ही-देखते यज्ञोपवीत धारण करने के लिए सैकड़ों मनुष्य पंक्तिबद्ध हो गए। स्वामी दयानंद द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना तो महासौभाग्य था।

मूर्तिपूजा के तो वे विरोधी थे ही, मंदिर-निर्माण के भी घोर विरोधी थे।

एक सेठ ने स्वामीजी से कहा, 'मैं मंदिर बनवाना चाहता हूँ।'

'सेठजी, किसी और काम के लिए धन व्यय करो, जिससे अपना और दूसरा का कल्याण हो। मंदिर बनवाना तो अपनी संतान के लिए गहरा गड्ढा खोदना है।' स्वामीजी ने कहा। क्या वे भविष्य-द्रष्टा थे ? शायद हाँ।

इस बार के कुंभ मेले में पूर्णतः संशयमुक्त थे। वे निश्चय कर चुके थे कि उन्हें असत्य-अविद्या का नाश और सत्य विद्या की पताका फहरानी है। वे कुठार-पाणि बनकर पाखंड पर एक के बाद एक प्रहार करने लगे।

'अब मैं अकेला नहीं हूँ। मेरी बात सुनने वाली भारत-भर से आई जनता है।' जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि उन्होंने वस्त्र फाड़कर पताका बनाई और उस पर लिखा—'पाखंड-खंडिनी'। यह पताका वे जीवन-भर फहराते रहे। शायद यह पताका उनकी प्राण थी। जड़-चेतन का संग्राम होता रहा, लेकिन उस पर हमेशा चेतन की ही जय होती रही। पाखंड-खंडिनी अंत तक फहराती-लहराती रही। अपने वस्त्रों की पताका बनाने के बाद उन्होंने और कोई वस्त्र धारण नहीं किया, सिवाय कौपीन के। वे राजस्थान और उत्तर प्रदेश के कई स्थानों पर घूमते रहे। वहाँ पहुँचने से पहले वे सत्य-असत्य तथ्यों को छपवाकर बँटवा दिया करते थे।

कोई कहता, 'स्वामीजी बहुत पहुँचे हुए हैं। उनके चेहरे से नूर बरसता है।'

कोई कहता, 'स्वामीजी ईसाइयों के एजेंट हैं, मूर्तिपूजा का खंडन करते हैं।'

निंदा-स्तुति से ऊपर उठकर स्वामीजी ने वही किया जो उन्हें करना था। वे न केवल मूर्तिपूजा और मंदिरों के विरोधी थे, बल्कि रामलीला आदि की भी खिल्ली उड़ाते थे। उन्हें इस बात का दुःख था कि पंडे-पुजारी राम, कृष्ण, देवी-देवताओं की मूर्ति प्रतिष्ठित कर उन्हीं के नाम से यजमानों के सामने दो-दो चार-चार पैसों की भीख माँगते हैं। वे जोरदार शब्दों में कहते, 'तुम सबने मिलकर अपने देवी-देवताओं को भिखारी बना दिया है।' रामलीलाओं और रासलीलाओं पर प्रहार करते हुए वे कहा करते 'बीड़ी-तंबाकू पीने वाले ढोंगी लोग अपने-अपने आराध्य का स्वाँग करते हैं। ऐसा क्यों ?' भोली-भाली जनता के पास कोई उत्तर न होता, क्योंकि उनके सामने यही सत्य रखा गया था।

उन्होंने मनुष्यकृत पुराणादि ग्रंथों, वैष्णव संप्रदाय, तंत्र-मंत्रादि वाम मार्ग, भाँगादि नशे, परस्त्री-गमन, मूर्तिपूजा तथा अन्य पाखंडों का विरोध किया और गोवध का भी। कर्नल ब्रुक को उन्होंने निर्भयतापूर्वक कहा, 'आप जानते हैं कि गाय के जीवन से क्या लाभ है ? फिर आप लोग उसका वध क्यों करते हैं ? जिस भारत भूमि का अन्न आप खाते हैं उसी की हानि करते हैं।' ब्रुक महाशय से केवल इतना ही

उन्होंने कहा, 'आप बिल्कुल सही फरमाते हैं स्वामीजी। पर गोवध बंद करना मेरे अधिकार में नहीं है।'

स्वामीजी को क्या पता था कि अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद काली चमड़ी वाले अंग्रेजों के पास भी गोवध बंद करने की हिम्मत नहीं होगी और न ही वे मदिरा-पान पर रोक लगा सकेंगे। पानी की तरह मदिरा बहाकर और परस्त्री-गमन करके अपनी कुर्सी बचाई जाएगी।

उन्होंने आठ सत्यों का मंडन किया और वे थे ईश्वर रचित 21 वेदादि शास्त्रों का अध्ययन, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके गुरु-सेवा, वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए संध्या-वंदन (प्रातः-सायं), पंच महायज्ञ करना, शम दम आदि नियमों का पालन करते हुए वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण, वैराग्यादि परा विद्या का अभ्यास और सन्यास ग्रहण, जन्म-मरण, शोक, हर्ष, काम-क्रोध, तम-रज का त्याग और सत्व का ग्रहण।

इन सत्यों का प्रचार करने के लिए वे स्थान-स्थान पर गए। उन्होंने रॉबिन्सन और शुलब्रेड आदि पादरियों के साथ विचार-विमर्श कर अपने विचारों से मौन करा दिया।

'ईसा चार दिन के लिए ईश्वर क्यों बने ?'

'एक बार मरकर वे कैसे जी उठे ?'

'फिर वे केवल आकाश में ही क्यों आरोहण करते रहे ?'

स्वामीजी के प्रश्नों का उनके पास कोई उत्तर नहीं था।

इसके बाद रॉबिन्सन महाशय ने स्वामीजी को अपने घर पर आमंत्रित किया। शिष्ट अभिवादन के आदान-प्रदान के बाद रॉबिन्सन ने उनसे पूछा, 'ब्रह्माजी ने अपनी पुत्री के साथ व्यभिचार किया था। इस बारे में आप क्या कहते हैं ?'

स्वामीजी ने तुरत उत्तर दिया, 'एक नाम के अनेक मनुष्य हुआ करते हैं। इसका कोई प्रमाण नहीं कि वे वही ब्रह्मा थे। महर्षि ब्रह्मा तो अत्यंत पवित्र जीव थे।'

स्वामीजी के उत्तर से पादरी महोदय बहुत प्रसन्न हुए। कहा, 'मैंने अपने संपूर्ण जीवन में वेदों का प्रकांड पंडित विद्वान् नहीं देखा। आपसे जो भी भेंट करेगा उसका जीवन सुधर जाएगा।'

स्वामीजी ने चाहे अजमेर की धरती पर पाँव रखा या पुष्कर की, वे चाहे काशी गए या कलकत्ता, हर स्थान पर उन्होंने अधर्म-असत्य का खंडन और धर्म-सत्य का मंडन किया। विशेष रूप से मूर्तिपूजा का खंडन।

काशी केवल संस्कृत का ही गढ़ नहीं है बल्कि हिंदू धर्म का सशक्त केंद्र है। वे केवल संस्कृत भाषा में ही व्याख्यान देते, शास्त्रार्थ करते और मूर्तिपूजा के प्रबल समर्थकों को चुनौती देते। पंडित लोग स्वामीजी से इतने परेशान थे कि उन्होंने अपने

मठ हिलते देख उन पर प्राणघाती हमले करवाए।

काशी जाने का मुख्य मुद्दा था शास्त्रार्थ। और शस्त्रार्थ का मुख्य विषय था 'मूर्तिपूजा वेदानुमोदित है या नही ?' शास्त्रार्थ की तिथि थी नवंबर 16, 1869 । एक ओर थे स्वामी दयानद सरस्वती और दूसरी ओर था पडित समूह स्वामी विशुद्धानद, बालशास्त्री, माधवाचार्य और ताराचरण आदि।

शास्त्रार्थ का अंत होते न होते प० माधवाचार्य ने वेद के दो पन्ने सामने रखकर कहा, 'इसमे लिखा हुआ है कि यज्ञ की समाप्ति के बाद यजमान दसवें दिन पुराण का पाठ सुने। यह 'पुराण' शब्द यहाँ किसके विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है ?' स्वामीजी इन पन्नों को देख ही रहे थे कि विशुद्धानदजी ने कहा, 'हम और प्रतीक्षा नही कर सकते। हम जाते है।' इतना सुनकर सभी खडे होकर हो-हल्ला करने लगे। किसी ने कहा, 'स्वामी हार गए।' और किसी ने कहा, 'स्वामीजी जीत गए।' इससे स्वामीजी को खास फर्क नही पडा।

17 जनवरी, 1870 को पैट्रिएट मे जो ख़बर छपी उसका साराश यह था कि अठारह वर्ष वेदो पर विचार करने के बाद दयानद इस सिद्धात पर पहुँचे हैं कि मूर्तिपूजा किसी अश मे भी वेदानुकूल नही है।

काशी शास्त्रार्थ के बाद स्वामीजी प्रयाग, मिर्जापुर से होते हुए पुनः काशी पधारे। इस बार काशी-नरेश ने उनका स्वागत किया। उन्हें स्वर्ण कुर्सी पर बैठाया गया। राजमहल में शास्त्रार्थकालीन दुर्व्यवहार के प्रति क्षमा-याचना की।

कलकत्ता के विख्यात बैरिस्टर श्री चंद्रशेखर सेन शास्त्रार्थ में दयानंदजी से अत्यन प्रभावित हुए और उन्हें कलकत्ता आने के लिए निमत्रण दिया। इसी तरह महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने भी उन्हे निमंत्रण दिया था। वे उनकी तीक्ष्ण बुद्धि के समक्ष नतमस्तक थे। वे निर्भीक, सौम्य, शात और प्रखर विद्वान् थे।

कलकत्ता ने उनके स्वागत मे पलको के पॉवड़े बिछा दिए थे और स्वामीजी भी महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर, केशवचंद्र सेन, ईश्वरचद्र विद्यासागर, हेमचंद्र चक्रवर्ती, प्रसन्नकुमार ठाकुर आदि विद्वानो से मिलने को आतुर थे। केशवचंद्र सेन के निवास पर उन्होने अनेक ब्राह्म बंधुओ से वार्तालाप किया। श्री नगेद्रनाथ चट्टोपाध्याय ने उनके लिए जो प्रशंसात्मक टिप्पणी की वह अद्भुत-अपूर्व है। उनका कहना है—

'केशव बाबू के घर जिस दिन मैने प्रथम दयानद की वक्तृता सुनी उस दिन एक नइ बात मैंने अनुभव की। मैं नही जानता था कि सस्कृत भाषा मे ऐसी सरल और मधुर वक्तृता हो सकती है। वे ऐसी सहज संस्कृत बोलने लगे कि संस्कृत भाषा मे जो व्यक्ति महामूर्ख हो वह भी अनायास ही उनकी बात समझ लेता था। और एक विषय मे मुझे आश्चर्य हुआ। अंग्रेज़ी भाषा से अनभिज्ञ, हिंदू संन्यासी के मुख से धर्म

और समाज के विषय मे ऐसे उदार विचार मैंने पहले कभी नही सुने थे।'

इसी प्रकार 30 दिसबर, 1872 के 'इडियन मिरर' मे प्रकाशित हुआ समाचार भी इस प्रकार की बात करता है, मूर्तिपूजा के महावैरी पडित दयानद सरस्वती, जिन्होंने थोड़े दिन पहले काशी के पडितो को शास्त्रार्थ में पराजित कर ख्याति अर्जित की थी।'

वहाँ के साहित्यकारो, कलाप्रेमियो और दयानद का एक-दूसरे पर प्रभाव रहा, बल्कि साधारण जनता पर भी उनकी विद्वत्ता निर्भीकता, सरल-सहज सस्कृत भाषा, भाषणो मे उनकी उदार-व्यापक दृष्टि ने भी सभी का मन मोह लिया। अब तक के दयानद सस्कृत-भाषी थे, लेकिन कलकत्ता प्रवास के दौरान उन्होंने पढना, बोलना और लिखना शुरु किया। एक वर्ष के अल्प समय में ही उन्होंने शास्त्रीय हिंदी मे भाषण देकर सभी को चोका दिया। 1874 का मई मास। तब उन्होंने काशी मे हिंदी मे पहला भाषण दिया। इससे पूर्व उन्होंने हिंदी-भाषी प्रदेशों की यात्रा की थी। निश्चय ही उन्होंने देशी भाषा सीख ली होगी। शास्त्रीय विषयो की व्याख्या करने के लिए उन्होंने विशाल शब्द-सपदा एकत्रित कर ली थी।

वैसे भी बँगला साहित्य के हिंदी अनुवाद ने हिंदी-भाषियो का सवेदनात्मक और कलात्मक साहित्य से परिचय हुआ। इसमे कोई संदेह नही कि दयानंदजी बगाल-प्रवास के दौरान ही हिंदी भाषा के सशक्त प्रचारक, लेखक और साहित्यकार बने। पता नही क्यो उनके साहित्यकार रूप की ओर न तो इतिहासकारों और न ही साहित्यकारों का ध्यान गया। जब भारतेदु हरिश्चद्र और राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद की ओर आचार्य रामचद्र शुक्ल ने देखा तो न जाने क्यों दयानदजी की ओर उनका ध्यान नही गया। इनकी चर्चा मै अन्यत्र करूँगी। हिंदी गद्य के निर्माण में वे एक सशक्त स्तभ की तरह थे। न केवल मन बल्कि उनके तन को भी कलकत्ता प्रवास ने बदल दिया। कौपीन के स्थान पर उन्होंने धोती-कुरता और अंगवस्त्र धारण कर लिया था। शायद हुगली नदी की यही देन उनके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। कलकत्ता के बाद उन्होने बिहार की ओर रुख किया।

इतना स्पष्ट है कि उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को लेकर मिश्रित धारणाएँ बन चुकी थी। कोई उन्हें सरस्वती-पुत्र समझता और कोई उनका चेहरा देखना भी पसद न करता। वे धर्म की शास्त्र-सम्मत व्याख्या कर पडितो को आश्चर्यचकित कर देते और वे उनकी जान के दुश्मन बने रहते। वह निश्छल हृदय स्वामी देशभर मे वैदिक पाठशालाएँ खोलने की योजना बनाया करता।

1874 की बबई। पडाव-पर-पडाव पार करते स्वामीजी बबई पहुँचे। कलकत्ता-वासियों की तरह बंबई-निवासी प्रबुद्ध और जागरूक थे। राजकोट पहुँचकर उन्होंने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। ब्रिटिश सरकार ने उसे देशद्रोही सस्था माना। इसलिए

यह सन्था विकसित नही हो सकी। राजकोट उनकी जन्मभूमि के निकट था। वहाँ के प्रसिद्ध कवि नर्मद और प्रार्थना सभा के नेताओ के आमंत्रण पर स्वामीजी वहाँ पधारे थे। वे यह चाहते थे कि प्रार्थना समाज और आर्यसमाज दोनों मिलकर समाज में फैली कुरीतियों को जड से उखाड दे। पर ऐसा संभव नहीं हो सका। वे 1875 मे एक बार फिर बंबई पधारे।

1875 की 29 जनवरी। यहाँ उन्होंने गिरगाँव रोड पर डॉ० माणिकजी बागवाडी मे आर्यसमाज की स्थापना की। प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा, गिरिधरलाल दयालदास कोठारी ने सदस्यता ग्रहण की। 28 नियमो वाले आर्यसमाज का अत्यत महत्त्वपूर्ण नियम था कि वेदानुकूल आर्य और संस्कृत भाषा मे पुस्तक निकाली जाएगी जिसका नाम होगा 'आर्यप्रकाश'। इसी नाम से एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला जाएगा।

यदि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने साहित्य मे गद्य के लिए खड़ीबोली और पद्य के लिए ब्रजभाषा का चयन किया तो स्वामी दयानद ने आर्य-विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए जिस देशी भाषा को अपना माध्यम बनाया वह थी आर्यभाषा अर्थात् आर्यो की भाषा। धर्म और जाति की दृष्टि से भारत मे कई जातियो को स्वीकार किया, लेकिन स्वामीजी ने सृष्टि मे केवल दो ही जातियाँ स्वीकार कीं। वे थीं आर्य और दस्यु। भले लोग और बुरे लोग। इसलिए उन्होंने आर्यभाषा को अपने विचारो का सशक्त माध्यम बनाया। इनके बाद तो स्वामीजी और आर्यसमाज आज तक एक-दूसरे के पर्याय बन रहे और बने रहेंगे।

स्वामीजी ने स्थान-स्थान पर आर्यसमाजो की स्थापना की तब उन्होंने घोषणा की—'सभी आर्य सभासदो को संस्कृत या आर्यभाषा जाननी चाहिए।'

तब स्वामीजी को क्या पता था कि आगे आने वाली पीढियाँ संस्कृत और हिंदी भाषा सीखने मे अपराधबोध से ग्रसित हो जाएँगी। यदि कलकत्ता-प्रवास के दौरान स्वामीजी ने हिंदी का पठन-पाठन आरंभ किया तो बंबई-प्रवास भी उनके जीवन मे एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप मे सामने आया। वह उपलब्धि है 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रकाशन। स्वामीजी रचित अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रथों मे यह ग्रंथ सर्वोपरि है। अन्य दो ग्रंथ हैं—'संस्कार-विधि' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'। हिंदी का प्रचार-प्रसार करने मे इस ग्रंथ की अहम भूमिका रही है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि हिंदी गद्य को स्वामीजी ने शब्दो की विशाल संपदा प्रदान की।

'सत्यार्थप्रकाश' का प्रथम संस्करण अप्रैल 1875 में प्रकाशित हुआ। मुरादाबाद निवासी सी०एस०आइ० राजा जयकृष्णदास ने उन्हे प्रेरणा दी और लिपिबद्ध करने के लिए महाराष्ट्र के पंडित चंद्रशेखर को नियुक्त किया। इसका लेखन लगभग चार मास

तक चला—जून 12, 1874 से लेकर सितबर 1874 तक। लेकिन बहुत जल्दी इस ग्रथ का दूसरा सस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमे स्वामीजी ने कुछ परिवर्तन कर उसे ही प्रामाणिक माना है।

समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र पुणे था। एक प्रकार से यह मराठो की सास्कृतिक नगरी थी। स्वामीजी का शखनाद सुन पुणे के न्यायाधीश महादेव गोविद रानाडे और गोपालहरि देशमुख उनके प्रति पूरी तरह आस्थावान हो चुके थे। महात्मा फुले भी उनका लोहा मानने लगे थे। इन सभी विभूतियो ने स्वामीजी को पुणे निमन्त्रित किया। 1875 मे ही पुणे पधारकर स्वामीजी ने विभिन्न विषयो पर सरल हिंदी में लगभग पचास व्याख्यान दिए, जिन्हें मराठी में लिपिबद्ध किया गया और बाद मे रानाडे ने उन्हे पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित करवाया। इन भाषणो का अनुवाद हिंदी, गुजराती और उर्दू मे किया गया। उर्दू अनुवादक थे स्वामी श्रद्धानदजी, वही स्वामीजी जिन्होने देश के लिए हँसते-हँसते सीने पर गोलियाँ खाई।

श्रद्धानदजी ने इन भाषणो को आर्य नर-नारियों के लिए संजीवनी बूटी के समान माना है। वस्तुत ये भाषण सत्यार्थप्रकाश मे प्रवेश करने के द्वार है। एक भाषण मे अपार जनसमूह के सामने स्वामीजी ने कहा, 'हम सर्वज्ञ नहीं और न ही सभी बाते हममे उपस्थित है। हमारे बोलने मे अनंत दोष होते होगे जिन्हे हमे स्वीकार करना ही चाहिए। अपने दोषो को स्वीकारना ही मनुष्यता है।'

परन्तु क्या कोई अपने दोषों को स्वीकार कर पाता है ? दोष जतलाने पर क्या कोई आग्नेय नहीं होता ?

कैसे थे ये मूलशकर ? जिसने अपनी अध्ययन-यात्रा घर से शुरू की। संस्कृत का अपार भडार लेकर हिंदी सीखी और दूसरी भाषाओ को भी अत्यधिक सम्मान दिया। उन्हे यह स्वीकारने मे लेशमात्र भी संकोच नहीं था कि भीष्म पितामह, युधिष्ठिर और विदुर बहुभाषाविद् थे : वे पश्चिम की कुछ भाषाएँ बोल सकते थे। उन्होंने सब कुछ खुले मन से स्वीकार किया।

पुणे से बबई, बबई से बडौदा होते हुए एक बार फिर वे काशी पहुँचे। कभी उन्होंने पाखड-खंडिनी फहराई थी, कभी सत्यार्थप्रकाश लिखा था और अब उनके मन मे वेदो का भाष्य करने की प्रवृत्ति उमडने-घुमडने लगी थी।

सवत् 1933, सन् 1876 का माघ मास, शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, रविवार का दिन और अयोध्या नगरी का सरयूबाग। इसी दिन उन्होंने ऋग्वेद का भाष्य शुरू किया था। उन्होंने भाष्य का उद्देश्य स्पष्ट लिखा है—

'मैं प्राचीन आर्य नीति का अवलबन करके ही इस वेद भाष्य की रचना में प्रवृत्त हुआ हूँ। यह भाष्य ऐतरेय और शतपथादि व्याख्या ग्रंथों के अनुकूल होगा। इसमे

कोई अप्रामाणिक बात नही होगी।

इसके बाद वे अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहते है, 'ब्रह्मा न व्यासदेव-पर्यन्त महर्षिगण ने जिस भाव और जिस प्रणाली मे वेदार्थ निर्धारित किया ह, मै इस भाष्य मे केवल उसी भाव और प्रणाली का अनुसरण करता हूँ।'

दिल्ली दरबार

1 जनवरी, 1877 की दिल्ली। दिल्ली का दिल्ली दरबार। महारानी विक्टोरिया द्वारा 'भारत की सम्राज्ञी' का पद ग्रहण करने के उपलक्ष्य मे वायसराय लॉर्ड लिटन ने दिल्ली और देश के अन्य गण्यमान्य व्यक्तियो को आमन्त्रित किया था। महारानी विक्टोरिया दूसरी महिला थी जिन्होंने सागर-पार बैठकर दिल्ली के दिल पर शासन किया था। इससे पहले महारानी पेभी ने इस पद को सुशोभित किया था। वायसराय साहब एक ओर महारानी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना चाहते थे और दूसरी ओर भारत के गण्यमान्यो के सम्मुख ब्रिटिश हुकूमत का वैभव दर्शाना चाहते थे। उस दरबार मे कई राजा-महाराजाओ, समाज-सुधारको, विद्वानो और दार्शनिकों की उपस्थिति ने चार चाँद लगा दिए थे। स्वामी दयानंद सरस्वती भी उनमें से एक थे। स्वामीजी राजाओं-महाराजाओ से मिलकर उन्हे समाज-सुधार संबंधी अपनी योजना से अवगत कराना चाहते थे। पर ऐसा सभव नही हो सका। अंग्रेज नहीं चाहता था कि राजे-महाराजे स्वामीजी की योजना स्वीकारें। यदि ऐसा हो जाता तो उनकी सामाजिक क्राति राजनीतिक क्रांति का रूप ले लेती। दूसरे राजदरबारी भी नहीं चाहते थे कि स्वामीजी का प्रभाव बढे। यदि ऐसा होता तो उनकी चापलूसी का क्या होता ? कश्मीर के महाराजा रणवीर सिह चाहकर भी स्वामीजी से नहीं मिल सके। भेंट नही हुई तो कोई बात नही, लेकिन स्वामीजी सभी धर्मो मे साम्य चाहते थे और एकजुट होकर ब्रिटिश सरकार को उखाडना चाहते थे। वे धार्मिक-सामाजिक एकता चाहते थे। इसलिए उन्होंने सर्वधर्म सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमे सर्वश्री ब्रह्मानद, केशवचंद्र सेन, नवीनचंद राय, मुशी कन्हैयालाल अलखधारी, मुशी इंद्रमणि, हरिश्चद्र चिंतामणि और सैयद अहमद उपस्थित थे। इन सभी नेताओ का विचार-विमर्श केवल विमर्श बनकर रह गया, उसका कार्यान्वियन नही हो सका।

दिल्ली से मेरठ, चॉदपुर और फिर पजाब की ओर। पॉच नदियो वाला पंजाब जिसकी मिट्टी की खुशबू व्यक्ति को कर्मठ और पराक्रमी बना देती है। शाहजहॉपुर, सहारनपुर, लुधियाना और फिर लाहौर। लाहौर मे (1877) स्वामीजी ने आर्यसमाज की स्थापना की। यह स्थापना दो दृष्टियो से अत्यत महत्त्वपूर्ण है। समाज की स्थापना डॉ० रहीम खॉं की कोठी पर की गई। दूसरा यह कि बबई मे स्थापित

आर्यसमाज के 28 नियम 10 नियमों मे बॅध गए। एक महत्त्वपूर्ण नियम यह था कि सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिए।' थोडी देर के लिए मै अपने पाठको को थोडा पीछे लिए चलती हूँ। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' उन्होंने दूसरो की उन्नति के लिए लिखी और उसमें उन्होंने अपनी ही उन्नति समझी। वे चाहते थे कि हिंदी में प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध हो। इसलिए उन्होंने पंजाब से आर्थिक अनुदान केवल इसलिए लेना चाहा कि यह साहित्यिक अनुष्ठान निर्विघ्न सपन्न हो। उन्होंने गवर्नर साहब को दो अक भेजे, लेकिन खेद कि वे अस्वीकृत हो गए। जब विद्वानो के पास उनका भाष्य सम्मति के लिए भेजा गया तो उन्होने जमकर विरोध किया और अप्रमाणिक माना। परन्तु स्वामीजी का कार्य धनाभाव से रुका नही। एक हजार व्यक्तियों ने अग्रिम राशि भेजकर इस महायज्ञ में आहुति दी। जब मै आज गुटबदी के बारे में सोचती हूँ तो मुझे यह लगता है कि यह आलोचना-समालोचना एक शाश्वत धर्म है। जब दयानद सरीखे पुरोधाओ की रचनाओ का घोर विरोध होता रहा तो मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति की तो औकात ही क्या ! धनाभाव के कारण यदि कोई साहित्यकार जीवट रूप में साँस लेता है तो वह क्या कम है ?

उनके विरोधियों के बीच मे एक स्वर श्रीअरविंद का उभरा था और वह यह था, 'स्वामी दयानद ने सत्य के अर्थों को खोज निकाला, इसलिए उनकी प्रतिष्ठा सबसे बढकर की जाएगी।'

पंजाब यात्रा

अमृतसर, गुरुदासपुर, जालधर, फीरोजपुर, रावलपिंडी, जेहलम, गुजरात, गुजरॉवाला, मुलतान आदि स्थानो पर उनके व्याख्यान सुने जाते रहे। सोलह महीने तक वे पंजाब मे अपनी पताका फहराते रहे। हिंदू, सिख, मुसलमान और ईसाइयो को वे एकसूत्र मे पिरोना चाहते थे। उनका मानना था कि ये सब मिलकर एक अखड, पवित्र और शात भारत का निर्माण कर सकते है। वे अपने साथ ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाज को भी लेकर चलना चाहते थे, लेकिन ऐसा संभव नहीं हो सका। पंजाब में ही उन्होंने 'आर्योदेश रत्नमाला' की रचना की, जिसमें वैदिक सिद्धांतों को सरल वस्त्र-विन्यास पहनाया गया है।

वे भारत का एक रूप देखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपनी भाषा सीखने पर बल दिया। अन्य भाषाओ मे उनकी पुस्तकों का अनुवाद बहुत आसानी से हो सकता था, लेकिन उन्होंने सभी प्रस्तावो को ठुकरा दिया। वे तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे कि जब सभी एक ही भाषा हिंदी के माध्यम से उनके ग्रथों का पठन-पाठन करें आज जब भाषा के आधार पर सरकार ने अलग-अलग की

कर विभिन्न साहित्यकारों में मतभेद पैदा कर दिए है तो आप उस दंडधारी स्वामी के निश्छल स्नेह की कल्पना कीजिए जो विदेशी राज्य में एक भारत की एक ही भाषा की परिकल्पना करता था। जब देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिंदी सीखी जा सकती है तो अन्य ग्रंथों को पढ़ने के लिए क्यों नहीं ?

स्वामीजी सहारनपुर पहुँचे। उनकी भेंट थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल एच०एस० आल्काट और मैडम एच०पी० ब्लैवेट्स्की से हुई। उन दोनों ने अब तक स्वामीजी का नाम ही सुना था। भेंट करने के बाद आल्काट महोदय ने उनके प्रति आभार व्यक्त किया–

'हमें सुधी पूजनीय विद्वानों की आवश्यकता है। हम आपके चरणों में उसी भाव से आते हैं जिस भाव से पिता के चरणों मे पुत्र जाते हैं और कहते हैं कि हे गुरो ! हमारी ओर देखिए और हमें बतलाइए कि हमें क्या करना है। हमको अपनी शिक्षा और सहायता दीजिए। हम आपके समीप नम्रता के साथ आते है, हम आपकी शिक्षा मानने के लिए और अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए उद्यत हैं।'

एक ओर स्वामीजी के प्रति विदेशी विद्वान् की कृतज्ञता और दूसरी ओर भारतीयों की शर्मनाक कृतघ्नता, जिसमें स्वामीजी को विष देकर बार-बार उनके प्राण-हरण की चेष्टा की गई। कितना दुर्भाग्य है हमारे देश का ! और इसी दुर्भाग्य मे हम प्रसन्न हैं।

इसी प्रवास मे स्वामीजी की मुलाकात मुंशीराम से हुई जो बाद में श्रद्धानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए। पहला भाषण सुनते ही वह युवक अवाक् रह गया। 'यह कैसा व्यक्ति है जो केवल संस्कृतज्ञ हो, युक्ति-युक्त बातें कर विद्वानों को चुप करा देता है !'

वे बार-बार बातें करते और चुप हो जाते। एक बार मुंशीराम ने कहा, 'आपने मुझे यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर का कोई अस्तित्व है।'

स्वामीजी का गुरु-गंभीर स्वर गूँजा, 'मैंने तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दिया, पर मैंने कब कहा था कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूँगा। यह तो तभी संभव है जब परम कारुणिक प्रभु ही तुम पर कृपा करेंगे।'

इसी दौरान 1880 में स्वामीजी ने वैदिक मंत्रालय की स्थापना की। इसी वर्ष वे मेरठ पधारे, शायद छठी बार। एक बार फिर उनकी मुलाकात कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की से हुई। वे दोनों योगाभ्यास से प्राप्त सिद्धियों में विश्वास रखते थे और स्वामीजी 'वेद अपौरुषेय है' कहा करते। इसलिए मूल मतभेद के कारण वे ज्यादा समय तक निभा नहीं सके। लेकिन स्वामीजी के प्रति उनका सम्मान बराबर बना रहा। वे दोनों स्वीकार करते कि–'शंकराचार्य के बाद भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे बड़ा वक्ता

अन्य कुरीतियों पर निर्भीक आक्रमणकारी रहा हो।'

स्वामीजी ने यह निर्णय किया कि देश के राजा-महाराजा उनके पुनीत कार्य में योगदान दे सकते हैं, क्योंकि दूसरी संस्थाओं की तुलना में वे धर्म, संस्कृति और भाषा से प्यार करते हैं; दूसरी ओर वे यह भी जानते थे कि आम जनता पूरी तरह सामंतवाद के शिकंजे में है। इसलिए उन्होंने एक बार फिर राजस्थान की यात्रा की। पहले वे भरतपुर गए, बाद में जयपुर और अजमेर। इस बार वे चित्तौड़ गए, उदयपुर के राजा सज्जनसिंह से भेंट की। उन्हें निमंत्रित करने वाले थे कवि राजा श्यामलदास और पं० मोहनलाल-विष्णुलाल पाड्या। वे चाहते थे कि स्वामीजी के प्रभाव से महाराजा साहब अपना राग-रंग छोड़ दें। स्वामीजी भी चाहते थे कि देश के राजा-महाराजा अपना विलास छोड़ जनता के दु:ख-दर्द को समझें और वास्तव में ही वे पितृतुल्य बन जाएँ। कितना अच्छा होता कि यदि ये पालक वास्तव में ही जनता के पालक बन जाते।' पर क्या वे इन राजाओं-महाराजाओं को सुधार सके ? शायद हाँ। उनके संपर्क में आने वाला हर व्यक्ति मांस-मदिरा तजकर एक साफ-सुथरी छवि वाला इनसान बन जाता, एक वास्तविक इनसान।

गोरक्षा अभियान

29 दिसंबर, 1881 की बंबई नगरी। समुद्र-तट पर बसी यह नगरी हमेशा से ही धर्म, संस्कृति और राजनीति का केंद्र रही है। यहाँ स्वामीजी ने आर्यसमाज की स्थापना कर इससे पूर्व भी नाना विषयों पर व्याख्यान दिए थे। इस बार उन्होंने गोरक्षा अभियान चलाया। उन्होंने जो कहा, करोड़ों श्रवणों तक पहुँचा।

'गोरक्षा का संबंध है देश की व्यापक अर्थ-नीति से। इसे केवल हिंदू धर्म से नहीं जोड़ना चाहिए।'

स्वामीजी ने कहा, 'देश के करोड़ों हाथ निवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर करें और इस पत्र पर लिखी स्याही महारानी विक्टोरिया को सोचने के लिए बाध्य कर देगी।'

एक के बाद एक हस्ताक्षर जुड़ता गया और मन की आवाज़ कहता गया। इन हस्ताक्षरों में मुसलमान और ईसाइयों के हस्ताक्षर भी कम नहीं थे। सबसे बड़ी बात यह कि इसमें गाय-बैलों के अतिरिक्त भैंसों की हत्या न करने की प्रार्थना की गई थी। बाद में यह प्रपत्र 'गो करुणानिधि' के नाम से प्रकाशित हुआ।

तब अंग्रेज़ी शासन से निवेदन किया गया था और आज स्वतंत्र भारत में भी लोग चैन की नींद सो रहे हैं। उनके कानों में इन मूक पशुओं का आर्तनाद क्यों नहीं पहुँचता ?

बंबई के बाद वे एक बार उदयपुर पधारे। उनके चरणों में बैठकर महाराणा

सज्जनसिंह ने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और बाद में मनुस्मृति, योगदर्शन और महाभारत के चुनिंदा प्रसंगों का अध्ययन किया।

स्वामीजी भी अपने इस आदर्श महाराणा शिष्य को आदर्श शासक के रूप में देखना चाहते थे। स्वामीजी ने उनसे आदेशात्मक स्वर में कहा, 'पशु-वध बंद करवाइए और हिंदी का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग करवाइए।'

महाराणा स्वामीजी से प्रभावित थे, उनके आदेश का पालन किया। लेकिन वे अपने गुरुजी के मूर्तिखंडक रूप से प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने स्वामीजी से निवेदन किया, 'आप इस मंदिर के महंत बन जाइए। आपके पास लाखों की संपत्ति होगी, जिसका उपयोग आप वेद भाष्य प्रकाशन आदि कार्यों में कर सकेंगे।'

लेकिन उन्होंने दृढ स्वर में कहा, 'राणाजी ! आप यह प्रस्ताव किस व्यक्ति के सामने रख रहे हैं ? आपका राज्य तो इतना छोटा है कि मैं एक दौड़ लगाकर ही इसके बाहर जा सकता हूँ, परंतु विश्वनियंता परमात्मा के ब्रह्मांड रूपी राज्य को छोडकर मैं कहाँ जा सकता हूँ। वेद और ईश्वर की आज्ञा भंग करना मेरे लिए संभव नहीं।'

इस सन्यासी ने प्रखरतापूर्वक उद्घोष किया, 'जब तक समस्त देशवासी एक ही धर्म के अनुयायी, एक ही भाषा बोलने वाले तथा एक ही प्रकार के आचार-विचार व्यवहार को धारण कर एक ही लक्ष्य की पूर्ति हेतु कृतनिश्चय नहीं हो जाते, तब तक स्वदेश की एकता तथा उसकी सर्वांगीण समृद्धि स्वप्न मात्र रहेगी।' स्वामीजी अच्छी तरह जानते थे कि एक भाषा एक विचार के बिना देश का सर्वांगीण विकास संभव नहीं। इसलिए उन्होंने केवल एक ही भाषा को चुना। उस समय भी देश की कई भाषाएँ थीं, लेकिन हिंदी को उन्होंने सूत्र रूप में स्वीकारा। काश कि वह एक सूत्र आज भी सर्वभाषाओं को पिरो सकने में समर्थ होता !

स्वामीजी चित्तौड़ होते हुए शाहपुरा और जोधपुर पहुँचे। कारण था जोधपुर-नरेश का सुधार करना। उन्होंने जोधपुर-नरेश की विलासिता, उनकी प्रेयसी और चापलूस दरबारियों के बारे में सुन रखा था। उन्होंने महाराजा को मनुस्मृति के आधार पर राजधर्म करने का उपदेश दिया। निर्भय होकर उन्होंने महाराज को चेताया, 'जिन लोगों पर सोलह लाख से अधिक जनसंख्या का दायित्व है, यदि वे ही स्वकर्तव्यों से पराङ्मुख हो जाएँगे तो इस देश का भविष्य अंधकारपूर्ण ही मानना चाहिए।'

कैसा अद्भुत संन्यासी था वह जिसने सब कुछ साध रखा था और राजा-महाराजा को भी खरी-खोटी सुनाने में नहीं चूकता था। एक बार महाराज ने उनसे निवेदन किया, 'हमें कोई ऐसा काम बतलाएँ जिससे हमारा मोक्ष हो।'

स्वामीजी ने हमेशा की तरह निर्भीक होकर उत्तर दिया, 'काम तो तुम्हारे मोक्ष के नहीं हैं, परंतु एक न्याय तुम्हारे हाथ में है। यदि न्यायपूर्वक प्रजापालन करोगे तो

तुम्हारा मोक्ष हो सकता है। यह उनके हृदय की सच्चाई थी जो उनकी वाणी पर थिरककर अपना अमिट प्रभाव छोड़ देती थी। इसका प्रभाव यह हुआ कि उन्होंने हिंदी को राजकाज की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया और राजकर्मचारियों के लिए खादी पहनना अनिवार्य कर दिया।

उनके भाषणों के कुठाराघाती रूप से एक ओर जोधपुर के मंत्री फैजुल्ला खाँ और दूसरी ओर महाराजा की प्रेयसी नन्ही भक्तिन भी उनसे बहुत नाराज थी। कुछ लोग स्वामीजी का तीव्र विरोध करने लगे थे। शायद कहीं कुछ गंभीर षड्यंत्र था।

निधन

जो भी व्यक्ति स्वामीजी के प्राणहनन की कोशिश करता, स्वामीजी उसे दृढ़ स्वर में कहते 'यह अच्छी तरह जान लो कि जब तक परमात्मा किसी को नहीं मारता तब तक कोई भी व्यक्ति उसे मारने में समर्थ नहीं हो सकता।' यही कारण है कि कई बार उन्हें मारने की चेष्टा की गई, प्रभु-कृपा से वे बच गए। उन्हें क्या पता था कि जिस जोधपुर के शासक को वे सुधारने गए थे वहाँ की भूमि न केवल उनके प्रति बल्कि देशवासियों के प्रति इतनी क्रूर होकर नवजागरण के पुरोधा का भक्षण कर लेगी।

1883 का 12 सितंबर। स्वामीजी का एक विश्वस्त सेवक चार-पाँच सौ रुपए का सामान लेकर चंपत हो गया। आखिर उस सेवक को क्या सूझी होगी कि स्वामीजी जैसे शांत-स्निग्ध व्यक्ति के साथ विश्वासघात करे! फिर 29 सितंबर की अर्द्धरात्रि। वे हमेशा की तरह रात को दूध पीकर सोए। उनके पेट में बहुत दर्द हुआ और वमन भी। अगली सुबह उठे तो उन्हें वमन हुआ। वे समझ गए कि उन्हें विष दिया गया है। एक के बाद एक डॉक्टर आते रहे और ओषधि देकर जाते रहे। पर किसी भी ओषधि का उन पर असर नहीं हो रहा था और उनकी हालत लगातार बिगड़ती चली जा रही थी। 12 अक्तूबर तक स्वामीजी की अस्वस्थता का किसी को पता नहीं चला। 'राजपूताना गजट' में स्वामीजी की अस्वस्थता का समाचार प्रकाशित हुआ। यह खबर जंगल में आग की तरह फैल गई। संखिए का विष था यह। शायद काँच भी रहा हो। डॉ० अलीमर्दान भावी आशंका से घबरा गए और उन्हें आबू ले जाने की सलाह दी जिसका समर्थन रेजीडेंसी के डॉक्टर साहब ने भी किया। वे जोधपुर से 16 अक्तूबर को चल, रास्ते के नाना कष्ट झेलते हुए 20 अक्तूबर को आबू रोड स्टेशन पहुँचे। वहाँ डॉ० लक्ष्मणदास की दवा से कुछ चेतना लौटी, लेकिन फिर पूर्ववत्। कोई लाभ न होता देख स्वामीजी को अजमेर लाया गया। किसी भी डॉक्टर ने चिकित्सा में कोई कमी न छोड़ी। मृत्यु थी कि धीरे-धीरे लगातार उनकी ओर बढ़ती चली आ रही थी। देश के कोने-कोने से भक्तों का सागर उमड़ा चला आ

रहा था। स्वामीजी अपना अत निकट देख रहे थे। डॉक्टरो के मना करने पर भी उन्होंने अपना पलग बरामदे मे लगवाया। डॉ० लक्ष्मणदास के आग्रह पर सिविल सर्जन को बुलाया गया। वे उनके अपूर्व आत्मबल को देखकर चौधिया गए।

स्वामीजी ने वैसी ही ओजस्वी वाणी मे डॉक्टरो को आदेश दिया, 'मेरा अत समय आ गया है, उपचार छोड दो।'

उनके शरीर पर फफोले उभर आए थे। श्वास की गति तीव्र हो गई थी। उस दिन दीपावली थी। अंधकार पर प्रकाश की विजय। एक प्रकाश-पर्व। स्वामीजी जीवनभर प्रकाश-पर्व के लिए सघर्ष करते रहे। इस समय वे भक्त-वृद के बीच मे थे। स्वामीजी ने उन्हे पीछे खड़े होने का आदेश दिया और कहा, 'सब द्वार खोल दो। प्रकाश को आने दो।'

द्वार खुल गए और प्रकाश भर गया। उन्होंने पूछा, 'आज कौन-सा दिन है '

रुँधे गले से उत्तर मिला, 'कृष्णपक्ष का अत और शुक्लपक्ष का आरभ। मगलवार।'

स्वामीजी का हृदय-कमल खिल उठा। वे मत्रोच्चार करने लगे। मत्रोच्चार करते-करते वे समाधिस्थ हो गए। कुछ देर बाद उन्होंने ऑखें खोलीं, चारों ओर देखा और मधुर स्वर में बोले, 'हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान, तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। तैंने अच्छी लीला की।' और 'ओ३म्' का उच्चारण करते हुए अपने प्राण-पखेरू को न जाने किस अनत आकाश मे ले गए।

गुरु और शिष्य दोनो एक-से चमकते-दहकते सूर्य थे। जब सवत् 1925 मे स्वामी विरजानदजी के निधन का दुःखद समाचार उन तक पहुँचा तो मुरझाए चेहरे और लगातार मौन के पश्चात् वे केवल इतना ही कह सके, 'आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।'

स्वामी दयानंद के अवसान पर न जाने कितने कंठ-द्वारो से यह निकला होगा—'आज आर्यावर्त का सूर्य अस्त हो गया।' एक ही आर्यावर्त की परिकल्पना लिए वे इस ससार से विदा हुए। स्वामीजी जानते थे कि क्या होने वाला है, इसलिए उन्होने पड्याजी से कहा, 'पंड्याजी, खेद से खिन्न न हूजिए। अब विधाता की ऐसी ही इच्छा है। देह का बिगडना-बनना तो पानी के बुलबुले और सागर-तरंग की भॉति होना ही रहता है। यह मर्त्यलोक मरणाभिमुख है। कोई अनहोनी होने लगे तो उसका कोई शोक भी न करे, परंतु मिलकर टूटना, बनकर विगड़ना, होकर न रहना, जन्म कर मर जाना तो जगत् का अवश्यभावी नियम है। इसके लिए सोचना भी न चाहिए।'

क्या मिला होगा उस व्यक्ति को जिसने स्वामीजी को विष दिया था ? विदेशी डॉक्टर- वैद्य- पीरजी उनकी शोचनीय और कष्टप्रद अवस्था को देखकर कॉप उठे थे

उनकी सहनशीलता देख दंग रह गए थे। लिखना बहुत आसान होता है, पर भोगना ? यह तो अनुत्तरित प्रश्न है। किसी ने संकेत और किसी ने स्पष्ट शब्दों में कहा, 'इनको किसी कुलकंटक ने कालकूट विष देकर अपनी आत्मा को कालिख लगाई है।'

स्वामीजी को जाना था और वे चले गए। स्वामीजी की वाणी से कभी फूटता, 'संसार में संयोग और वियोग का होना स्वाभाविक है।'

'गुरुदत्त, लाहौर की कुशल-मंगल बताओ।' और शोकाकुल दीवार के सहारे टकटकी बाँध मौन खड़े थे। अपने गुरुदेव का अंतिम प्रयाण देख रहे थे। स्वामीजी ने अपने प्राणों को ब्रह्मरंध्र में ले जाकर प्रणव-नाद किया होगा तथा खुशी से कीमती चोले को, अपनी चदरिया को यहीं छोड़ दिया होगा और किसी ने उन्हें रोका भी नहीं होगा।

सभी की मुख-मुद्रा विलीन हो गई होगी। उनकी निर्जीव देह को चंदनादि सुगंधित पदार्थों से सुवासित किया गया होगा। रेशमी वस्त्रों में वेष्टित कर उन्हें पुष्पों, कदली-स्तंभों और कोमल पत्तों से सजी शिविका पर लिटा दिया गया होगा। उनकी अंतिम यात्रा में भक्तजन नंगे पैर सम्मिलित हुए होंगे।

रामानंदजी और गोपालगिरिजी वेदपाठ करते चल रहे थे। अजमेर नगर के आगरा द्वार में होते हुए कई बाजारों-चौकों को पार करते हुए नगर के बाहर दक्षिण द्वार में उन्हें अग्नि को समर्पित करने के लिए एक चौकी बनाई गई थी। दो मन चंदन, दस मन पीपल की समिधाओं से चिता बनाई गई। स्वामी रामानंद और आत्मानंदजी ने विधि-विधानपूर्वक अग्न्याधान किया। अग्नि-स्पर्श होते ही घृत-संचित चिता धू-धू कर जल उठी। चार मन घी, पाँच सेर कपूर और एक सेर केसर को भी चिताग्नि ने अपने भीतर समेट लिया। बाद में समयानुसार स्वामीजी की अस्थियों का चयन कर शाहपुर-नरेश द्वारा दिए गए उद्यान में उन्हें गाड़ दिया गया। आज भी वह उद्यान स्वामीजी की अस्थियों को अपने भीतर समेटे है।

इसी तरह 'कौन-सा दिन', 'कौन-सा वार', 'दरवाजे-खिड़कियाँ खोल दो', 'प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहते-कहते स्वामी दयानंद इस संसार से विदा हुए। उस संसार से जहाँ उन्होंने चैतन्य शिव के दर्शन किए थे, पाखंड की धज्जियाँ उड़ाई थीं, शिक्षा की पताका फहराई थी, विधवा-विवाह का समर्थन किया था और सतीप्रथा का विरोध किया था। आर्यों का समाज सुगठित किया था, आर्यभाषा का प्रचार किया था। मैं नहीं जानती कि आज के युग में लोग उनकी जिंदगी की महत्त्वपूर्ण तिथियाँ कितना जानते हैं, पर इतना जरूर जानती हूँ कि उन्हें जाने बगैर टूटते परिवेश को जोड़ा नहीं जा सकता। एक बार फिर उनके 'सत्यार्थप्रकाश' की ओर लौटना होगा, 'संस्कार-विधि' के सोलह संस्कारों को स्वीकारना होगा। तब कहीं जाकर स्वामीजी की इच्छा का अखंड भारत हमारे सामने तैयार होगा, अन्यथा नहीं।

साहित्यकार रूप

'लोग कहते है कि सत्य को प्रगट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीडा देगा। अरे ! चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।'''आत्मा का न तो कोई हथियार छेदन कर सकता है और न उसे आग जला सकती है।' यह कहकर वे गरजती हुई आवाज़ में बोले, 'यह शरीर तो अनित्य ह। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है।'''लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखाओ जो यह दावा करता है कि वह मेरी आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर ससार में दिखाई नहीं देता, मै यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मे सत्य को दबाऊँ या नही।'

गर्जना करने वाले हैं स्वामी दयानद और सुनने-सुनाने वाले हैं स्वामी श्रद्धानद, जिन्होंने हँसते-हँसते सीने पर गोलियाँ खाई थीं। वे आगे जाकर उस भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

'मैने केशवचद्र सेन, लालमोहन घोष, सुरेद्रनाथ बनर्जी और एनी बेसेंट आदि सुप्रसिद्ध व्याख्याताओं के भाषण सुने हैं; पर मैं सच्चे दिल से कहता हूँ कि जो असर मुझ पर उस रोज़ के व्याख्यान ने किया और जो फसाहत मुझे उस रोज़ के सादे शब्दो मे मालूम हुई वह अब तक तो दिखाई नहीं दी। महाराज ने सत्य के बल पर बोलना आरभ किया। पादरी स्कॉट को छोडकर सब अग्रेज सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नही हिलता था। सब एकाग्र होकर चुपचाप भाषण सुन रहे थे।

'एक राजा बैंगन खाकर सभा मे आए। उस दिन उन्हें बैंगन बहुत स्वादिष्ट लगे थे। सभा में आकर उन्होंने कहा कि बैगन बडे स्वादिष्ट होते है तो दरबारी कहने लगे कि महाराज, बैगन तो शाको का राजा है। देखिए, इसका वर्ण श्रीकृष्ण के वर्ण के समान है और सिर पर मुकुट है। रात्रि में उन्हें विकार हुआ, क्योंकि उन्होंने अधिक खा लिए थे। अतः अगले दिन सभा में आकर राजा ने बैगन की बुराई की, तो चाटुकार दरबारी भाट कहने लगे कि महाराज, इन्ही अवगुणो के कारण तो इसका वर्ण काला हो गया है और इसे यह दंड मिला है कि शाखा के नीचे लटकता रहे।'

'ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनो बराबर हैं, क्योंकि वह न्यायकारी है। उसमे पक्षपात का लेश नही है। जब पुरुषो को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जाए तो

स्त्रियो को दूसरे विवाह से क्यों रोका जाए ? पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे स्त्रियाँ कर सकता है, देश, काल पात्र और शास्त्र का कोई बधन नहीं रहा। क्या यह अधर्म नही है ?

'देखो, कुछ सौ वर्ष के ऊपर इस देश मे आए यूरोपियनो को हुए और आज तक वे लोग वही कपड़े पहनते है जैसा कि स्वदेश मे पहनते थे। उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नही छोडा। और तुममे से बहुत-से लोगो ने उनकी नकल कर ली। इसी से तुम निर्बुद्ध और वे बुद्धिमान ठहरते है। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान का काम नहीं।'

स्वामीजी की व्याख्यानमालाओ मे से मैने यह सब इसलिए उद्धृत किया है कि मै यह मानती हूँ कि स्वामीजी अपने समय के एक ऐसे साहित्यकार थे जिनकी अनुभूति-अभिव्यक्ति ने न केवल तत्कालीन समाज पर प्रभाव छोडा, अपितु परवर्ती साहित्यकारो पर भी छाप छोडे रहे। इस प्रकार के निर्भीक विचार केवल वही व्यक्ति प्रगट कर सकता है जिसने अपनी जान हथेली पर रख ली हो।

हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास लिखते समय पता नहीं क्यों इतिहासकारों का ध्यान स्वामी दयानद की ओर नही गया ? पत्र-लेखन, आत्मकथा विज्ञापन के अतिरिक्त स्वामीजी ने जिन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन किया उन्हे बिना पढे छोड दिया गया। यह खेद की बात है कि आचार्य रामचद्र शुक्ल ने भी स्वामीजी को अपनी आँखों से ओझल रखा। मुशी सदासुखलाल, इशाअल्ला खॉ, रामप्रसाद निरजनी, भारतेंदु हरिश्चद्र, राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की महिमा बखान करने, गोरों द्वारा फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना, लल्लू लाल और सदल मिश्र को ज़ोर-शोर से स्वीकारने, ईसाई प्रचारको का योगदान मानने की भी बडी बात हो सकती है; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि एक निडर साहित्यकार की उपेक्षा कर दी जाए। जिस व्यक्ति ने जीवन-भर यात्रा कर दार्शनिक विचारो को हिंदी में प्रस्तुत किया उसी हिंदी को पडितो-पंडों और हिदुओं की भाषा तथा उर्दू को मौलवी-मुल्लाओं की भाषा कहकर नजरअदाज़ कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार, जो कि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा पनपी, उसने हमेशा जनता को लडाने-भिडाने का काम किया।

इन इतिहासकारों के अतिरिक्त उन साहित्यकारो का भी अहित किया जो सिर्फ अपना उल्लू सीधा करना जानते थे। फोर्ट विलियम कॉलेज में नियुक्त लल्लू लाल और सदल मिश्र ने क्रमशः प्रेमसागर नासिकेतोपाख्यान लिखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली और दूसरी ओर दुर्भाग्यवश राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद जैसे व्यक्ति विद्यालयों के निरीक्षक थे और अग्रेज़ी शासको की चापलूसी करना उनका परम धर्म था वे भला स्वामीजी की वेद पढ़ने-पढ़ाने वाली बात को परम धर्म कैसे समझते ·

साहित्यकार रूप

'लोग कहते हैं कि सत्य को प्रगट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीडा देगा। अरे ! चक्रवर्ती राजा क्यो न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेगे।'' आत्मा का न तो कोई हथियार छेदन कर सकता है और न उसे आग जला सकती है।' यह कहकर वे गरजती हुई आवाज़ में बोले, 'यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा मे प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। ''लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखाओ जो यह दावा करता है कि वह मेरी आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर ससार मे दिखाई नहीं देता, मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मै सत्य को दवाऊँ या नही।'

गर्जना करने वाले हैं स्वामी दयानद और सुनने-सुनाने वाले है स्वामी श्रद्धानद, जिन्होने हॅसते-हॅसते सीने पर गोलियॉ खाई थीं। वे आगे जाकर उस भाषण की भूरि-भूरि प्रशसा करते है।

'मैने केशवचद्र सेन, लालमोहन घोष, सुरेंद्रनाथ बनर्जी और एनी बेसेट आदि सुप्रसिद्ध व्याख्याताओ के भाषण सुने है, पर मैं सच्चे दिल से कहता हूँ कि जो असर मुझ पर उस रोज़ के व्याख्यान ने किया और जो फ़साहत मुझे उस रोज़ के सादे शब्दो में मालूम हुई वह अब तक तो दिखाई नहीं दी। महाराज ने सत्य के बल पर बोलना आरभ किया। पादरी स्कॉट को छोडकर सब अंग्रेज़ सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नहीं हिलता था। सब एकाग्र होकर चुपचाप भाषण सुन रहे थे।

'एक राजा बैगन खाकर सभा मे आए। उस दिन उन्हे बैगन बहुत स्वादिष्ट लगे थे। सभा मे आकर उन्होंने कहा कि बैगन बडे स्वादिष्ट होते है तो दरबारी कहने लगे कि महाराज, बैगन तो शाको का राजा है। देखिए, इसका वर्ण श्रीकृष्ण के वर्ण के समान है और सिर पर मुकुट है। रात्रि में उन्हें विकार हुआ, क्योकि उन्होंने अधिक खा लिए थे। अत: अगले दिन सभा में आकर राजा ने बैगन की बुराई की, तो चाटुकार दरबारी भाट कहने लगे कि महाराज, इन्ही अवगुणों के कारण तो इसका वर्ण काला हो गया है और इसे यह दंड मिला है कि शाखा के नीचे लटकता रहे।'

'ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनो बराबर हैं, क्योकि वह न्यायकारी है। उसमे पक्षपात का लेश नही है। जब पुरुषो को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जाए तो

स्त्रियो को दूसरे विवाह से क्यो रोका जाए ? पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे स्त्रियाँ कर सकता है, देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बधन नही रहा। क्या यह अधर्म नही है ?

देखो, कुछ सौ वर्ष के ऊपर इस देश में आए यूरोपियनो को हुए और आज तक वे लोग वही कपड़े पहनते हैं जैसा कि स्वदेश मे पहनते थे। उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नही छोडा। और तुममे से बहुत-से लोगो ने उनकी नकल कर ली। इसी से तुम निर्बुद्ध और वे बुद्धिमान ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान का काम नही।'

स्वामीजी की व्याख्यानमालाओं मे से मैंने यह सब इसलिए उद्धृत किया है कि मै यह मानती हूँ कि स्वामीजी अपने समय के एक ऐसे साहित्यकार थे जिनकी अनुभूति-अभिव्यक्ति ने न केवल तत्कालीन समाज पर प्रभाव छोडा, अपितु परवर्ती साहित्यकारो पर भी छाप छोड़ रहे। इस प्रकार के निर्भीक विचार केवल वही व्यक्ति प्रगट कर सकता है जिसने अपनी जान हथेली पर रख ली हो।

हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास लिखते समय पता नही क्यो इतिहासकारों का ध्यान स्वामी दयानंद की ओर नही गया ? पत्र-लेखन, आत्मकथा विज्ञापन के अतिरिक्त स्वामीजी ने जिन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रथो का प्रणयन किया उन्हें बिना पढे छोड दिया गया। यह खेद की बात है कि आचार्य रामचद्र शुक्ल ने भी स्वामीजी को अपनी ऑखों से ओझल रखा। मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खॉ, रामप्रसाद निरजनी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की महिमा बखान करने, गोरो द्वारा फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना, लल्लू लाल और सदल मिश्र को जोर-शोर मे स्वीकारने, ईसाई प्रचारकों का योगदान मानने की भी बडी बात हो सकती है; लेकिन इसका मतलब यह नही कि एक निडर साहित्यकार की उपेक्षा कर दी जाए। जिस व्यक्ति ने जीवन-भर यात्रा कर दार्शनिक विचारो को हिंदी मे प्रस्तुत किया उसी हिंदी को पडितों-पडो और हिंदुओं की भाषा तथा उर्दू को मौलवी-मुल्लाओं की भाषा कहकर नज़रअदाज़ कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार, जो कि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा पनपी, उसने हमेशा जनता को लड़ाने-भिड़ाने का काम किया।

इन इतिहासकारो के अतिरिक्त उन साहित्यकारो का भी अहित किया जो सिर्फ़ अपना उल्लू सीधा करना जानते थे। फोर्ट विलियम कॉलेज मे नियुक्त लल्लू लाल और सदल मिश्र ने क्रमश प्रेमसागर नासिकेतोपाख्यान लिखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली और दूसरी ओर दुर्भाग्यवश राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद जैसे व्यक्ति विद्यालयो के निरीक्षक थे और अंग्रेजी शासको की चापलूसी करना उनका परम धर्म था वे भला स्वामीजी की वेद पढ़ने-पढ़ाने वाली बात को परम धर्म कैसे समझते ?

आज स्वतंत्र भारत मे हर तरह की गुटवाज़ी जिस तरह हमारे सस्कारशील साहित्य को जड से उखाड़ उसे मृत्यु को सौंप जा रही है ठीक वैसा ही कार्य शिवप्रसाद सितारेहिद ने किया। तभी हेनरी पिनकाट ने बाबू हरिश्चद्र को 1884 मे जो पत्र लिखा वह अत्यत महत्त्वपूर्ण है। वे उनकी धूर्तता का उल्लेख करते हुए कहते ह– 'राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस वर्ष हुए, उसने सोचा कि अग्रेजी साहबों को कैसी-कैमी बाते अच्छी लगती है। इसलिए उसने बडी चाल से काव्य को और अपनी हिंदी भाषा को भी बिना लाज छोडकर उर्दू को प्रचलित करने मे बहुत उद्योग किया।' इससे बढ़कर अशोभनीय और क्या हो सकता है कि एक अंग्रेज़ भारतीय साहित्यकार के बारे मे ऐसी टिप्पणी करे।

राजा लक्ष्मणसिह की मान्यता थी कि सस्कृतनिष्ठ हिदी ही हिंदुओं की भाषा है और अरबी-फ़ारसीयुक्त उर्दू मुसलमानों की। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि लक्ष्मणसिहजी ने हिदी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखा।

इन परिस्थितियो मे गुजराती-भाषी स्वामी दयानद ने हिदी अपनाकर यह सिद्ध कर दिया कि उनके हिदी भाषा मे लिखित ग्रथ साधारण जनता को छू लेगे। यही कारण है कि उन्हे सुनने और पढने के लिए भारत के विशाल समुदाय ने हिदी का अध्ययन किया।

'मुझे हिदी का प्रचार करना है। उसे जन-जन तक पहुँचाना है।' यही सोचकर उन्होंने पत्र-व्यवहार तो हिंदी मे किया ही, आर्यसमाज के सभी सभासदो को यह आदेश दिया कि वे लिफ़ाफ़ों पर हिंदी मे ही पता लिखा करें। और उनके आदेश का पालन हुआ भी।

इतिहासकारो ने उन पर यह आक्षेप लगाया कि न तो उन्होंने कहानी-उपन्यास लिखे हैं और न ही नाटक-एकाकी, इसलिए उन्हे साहित्यकार के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। इसमें कोई सदेह नहीं कि वे नाटकों, प्रहसनो और रामलीलाओ के घोर विरोधी थे। लेकिन इसमे भी दो राय नहीं कि भारतेदु हरिश्चद्र के सुप्रसिद्ध नाटक 'अंधेर नगरी' का कथ्य दो वर्ष पहले (नाटक लिखे जाने से) स्वामी दयानद अपनी पुस्तक 'व्यवहार भानु' में इस कथ्य का प्रयोग कर चुके थे। 'व्यवहार भानु' का प्रकाशन वर्ष सन् 1879। भारतेंदुजी ने यह नाटक क्यों लिखा, इसे स्पष्ट करते हुए श्री रामदीन लिखते हैं—'दक्षिण मे पारसी और महाराष्ट्र नाटक वाले प्राय· 'अधेर नगरी' का प्रहसन खेला करते है। ऐसा ही हिंदू नेशनल थियेटर ने भी खेलना चाहा था और भारतेदुजी से अपना आशय प्रकट किया था। भारतेदु जी ने उस कथा को काव्य में बाँध दिया।'[1]

1 भारतेदु ग्रथावली नागरी प्रचारिणी सभा पृ० 164

भारतेंदु नाटक को वही समाप्त कर देते हैं जहाँ लोग राजा को टिकटी पर खडा करते है, परन्तु स्वामीजी उसको फॉसी लग जाने के बाद उसके छोटे भाई सुनीति को गद्दी पर बैठाते है और उसके 'सुराज' का वर्णन भी करते हैं--

'और जब जिस देशस्थ प्राणियो का सौभाग्य उदय होने वाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक, विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करने वाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राज सबध मे प्रीतियुक्त मगलकारिणी प्रजा बनती है।'[1]

यह बात कम लोगो को मालूम है कि समवेत स्वर मे यही कहा गया भारतेंदु हरिश्चद्र और 'अधेर नगरी' एक-दूसरे के पूरक है। परंतु किसी ने भी 'व्यवहार भानु' के पन्ने उलटने का कष्ट नही किया, क्योकि किसी ने भी उन्हे साहित्यकार के रूप मे प्रतिष्ठित नहीं किया। वे इस बात से आहत थे कि जो इस देश मे उत्पन्न होकर अपनी भाषा के सीखने मे कुछ भी परिश्रम नही करता उससे और क्या आशा की जा सकती है।

पत्र-लेखन हिंदी साहित्य की प्रमुख विधा है, जो सभवत: उस काल मे भी पनप रही थी। आज की दुनिया मे पत्र-लेखन को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करके उसे प्रशासनिक, व्यावहारिक और कामचलाऊ बना दिया गया है। तब स्वामीजी ने इसके गभीर महत्त्व को समझा। व्यस्त होने के बावजूद वे समय निकालकर पत्र लिखा करते थ। मै उनके एक-दो पत्रो द्वारा अपने मत को स्पष्ट करना चाहूँगी। उन्होंने अपने मित्र माधोलालजी को लिखा–

'महाशय माधोलालजी आनंदित रहो। आर्यसमाज के ठीक नियमो को समझकर आपको वेदातानुसार सबके हित मे अवश्य लग जाना चाहिए। विशेपता से अपने आर्यावर्त देश को सुधारने में अत्यंत श्रद्धा-प्रेम और भक्ति होनी चाहिए। सबको अपने समान जानकर उनके क्लेशो के काटने और सुखों को बढाने के लिए प्रयत्न और उपाय करना उचित है। सबका हित करना ही परम धर्म है। इसी के प्रचार की वेद मे आज्ञा पाई जाती है। – दयानंद सरस्वती

आज के साहित्यकार ईर्ष्या-प्रमादवश भले ही एक-दूसरे को पत्र न लिखते हो या किसी स्वार्थवश लिखते हो, या एक-दूसरे की टाँग खींचने के लिए लिखते हो, पर पत्र-लेखन तो एक ऐसी अद्भुत विधा है जिसमे व्यक्ति अपने हृदय को परत-दर-परत खोलता चला जाता है और प्यार का दरिया कागज़ो मे समोता चला जाता है, नितात निजी जीवन को भी उसमें खोलता चला जाता है। शायद 'मैं' उसमें पूरी तरह डूबा

[1] दयानद ग्रथावली, शताब्दी सस्करण, पृ० 769

रहता है। इतना तो कविता-कहानी लिखने मे भी नही होता। अस्तु ।

स्वामीजी ने कई विषयों पर अनेक व्यक्तियो को संस्कृत, गुजराती, हिंदी, उर्दू मे पत्र लिखे। सरल विषयो को सरल भाषा मे और गभीर विषयों के लिए वे वैसी ही भाषा प्रयुक्त किया करते थे। वेदार्थ के लिए उन्होंने अपने परम विरोधी राजा शिवप्रसाद को जो पत्र लिखा, वह इस प्रकार है—

राजा शिवप्रसादजी, आनंदित रहो।

आपका पत्र मेरे पास आया। देखकर अभिप्राय जान लिया। इसके देखने से मुझको निश्चित हुआ कि आपने वेदों से ले के पूर्वमीमांसा-पर्यंत विद्या पुस्तकों के मध्य मे से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ संबंधों को नही जाना है। इसलिए आपको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ। जो मेरे पास आ के समझते तो कुछ-कुछ समझ सकते। परतु जो आपको अपने प्रश्नो के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानंद सरस्वती व बालशास्त्रीजी को खड़ा करके सुनिएगा तो भी आप कुछ समझ सकेगे। भला विचार तो कीजिए कि आप उन पुस्तकों को पढे बिना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस मे सबध, क्या-क्या उनमें है और स्वत. प्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद और परत प्रमाण और ऋषि-मुनिकृत ब्राह्मण पुस्तक है। इन हेतुओं मे क्या-क्या सिद्धांत सिद्ध होते है और ऐसे हुए बिना क्या-क्या हानि होती है, इन विद्या-रहस्य की बातो को जाने बिना आप कभी नही समझ सकते।

(सं० 1936, सप्तमी, शनिवार, सन् 1879)
—दयानंद सरस्वती

'पाठशालाएँ खोलो। हिंदी मे विज्ञापन दो। गुरुकुलों की स्थापना करो, ताकि वहाँ से शिक्षित विद्यार्थी निकले और आर्य-पताका फहराएँ।' यही उनकी कर्मभूमि की विशेषता थी।

स्वामीजी की प्रेरणा से कई प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ निकलीं, जिनमे 'आर्य दर्पण', 'आर्य भूषण', 'भारत-सुदशा प्रवर्तक' प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'कवि-वचन-सुधा' मे स्वामीजी के विज्ञापन सस्कृत और आर्यभाषा मे प्रकाशित हुए। हिंदी विज्ञापनो से हिंदी का सशक्तीकरण होता है। चारों वेदों के प्रकाशन हेतु उनका एक विज्ञापन दृष्टव्य है—

'चारो वेदो का भाष्य करने का आरंभ मैने किया है। सो सब सज्जन लोगों को विदित हो कि वह भाष्य सस्कृत और आर्यभाषा, जो कि काशी-प्रयाग आदि मध्य देशो की है, इन दोनो भाषाओ मे बनाया जाता है। इसमें संस्कृत भाषा भी सुगम रीति की लिखी जाती है और वैसी आर्यभाषा भी सुगम लिखी जाती है। संस्कृत ऐसी सरल

है कि जिनको साधारण संस्कृत का पढ़ने वाला भी वेदो का अर्थ समझ ले तथा भाषा का पढ़ने वाला भी समझ लेगा।'

ऋग्वेदादि जैसे भाष्यो का विषय बहुत दुरूह रहा, लेकिन स्वामीजी ने उसे सरल शैली में प्रस्तुत किया। स्वामीजी गद्य-संसार के पुरोधा थे। कभी-कभी यह लगता है कि उनका गद्यकार रूप उनके शिक्षाविद् रूप से बहुत व्यापक-विशाल है। उन्होंने छोटे-बड़े अनेक प्रकार के तीस ग्रथो की रचना की। सभी विविध विषयो के विविध रूप लेकिन मुख्यतः 'संस्कार-विधि', 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' जैसे ग्रथ गगा-यमुना और सरस्वतीवत् है और उनकी लिखी आत्मकथा उस नदी-तट के समान है जहाँ बैठकर भक्तजन उनकी उद्वेलित जीवन-गाथा को बाँचते चले जाते है—कभी सस्वर और कभी मौन भाव से। जैसा कि कहा जा चुका है कि उन्होंने अपने सभी ग्रथ बोलकर लिखवाए है, अर्थात् सभी कुछ कंठस्थ। हमारे यहाँ कंठस्थ विद्या का अपना माहात्म्य है। विषय धर्म, अध्यात्म और समाज-सुधार से सबधित। क्या इसी आधार पर सभी ने उन्हे उपेक्षित कर दिया है ? यह सवाल मेरे मन में बार-बार उठता रहता है। जब अन्य धार्मिक नेताओ को इतिहास में सम्मिलित किया जाता है तो स्वामीजी को क्यो नहीं ? मैडम ब्लैवेट्स्की के शब्दो में—

'शकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नही हुआ जो स्वामीजी से बडा संस्कृतज्ञ, उनसे बडा दार्शनिक, उनसे बड़ा तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियो पर आक्रमण करने मे उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।'

इस प्रकार स्वामीजी द्वारा रचित ग्रंथ त्रिवेणी मे अनेक निमज्जित हुए और भाँति-भाँति की मौक्तिक माल बना आर्यसमाज को भेटस्वरूप समर्पित की।

जैसा कि मैने कहा कि 'सस्कार-विधि', 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' दयानदजी के ऐसे ग्रंथ है जो अपने भीतर गगा-यमुना को समेटे हुए है और एक पतित-पावन सगम का प्रतिनिधित्व करते है। यदि सत्य कहा जाए तो मेरुदंड मे ये इडा, पिगला और सुषुम्ना के समान है। इन्हें केवल आंतरिक नेत्रों द्वारा ही देखा जा सकता है। जब तक सत्यार्थ का प्रकाश अपने भीतर से अनुभव नही किया जाता, वह बाहरी तौर पर नही देखा जा सकता। इसी सत्यार्थ को ऋषि ने प्रकाशित किया है, सत्यार्थप्रकाश है। यह एक ऐसा प्रकाश है जिसमे उनके सभी ग्रंथ समाहित हो जाते है।

सबसे पहले मै सत्यार्थप्रकाश की बात करती हूँ। यह एक ऐसा ग्रथ है जिसमें चौदह समुल्लास हैं। ईश्वर के एक से अनेक नामो का उल्लेख करते हुए वे उस युग के नामो धर्मो का खडन-मंडन करते ही शिव के चैतन्य रूप का वर्णन करते है। जिसकी तलाश मे वे टंकारा के शिवालय से लेकर पर्वतों, गुफ़ाओं, नदियो-नालों,

रहता है। इतना तो कविता-कहानी लिखने मे भी नही होता। अस्तु ।

स्वामीजी ने कई विषयों पर अनेक व्यक्तियो को संस्कृत, गुजराती हिंदी, उर्दू मे पत्र लिखे। सरल विषयों को सरल भाषा मे और गभीर विषयो के लिए वे वैसी ही भाषा प्रयुक्त किया करते थे। वेदार्थ के लिए उन्होने अपने परम विरोधी राजा शिवप्रसाद को जो पत्र लिखा, वह इस प्रकार है—

राजा शिवप्रसादजी, आनदित रहो।

आपका पत्र मेरे पास आया। देखकर अभिप्राय जान लिया। इसके देखने से मुझको निश्चित हुआ कि आपने वेदों से ले के पूर्वमीमासा-पर्यत विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ संबधो को नही जाना है। इसलिए आपको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ। जो मेरे पास आ के समझते तो कुछ-कुछ समझ सकते। परतु जो आपको अपने प्रश्नो के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानंद सरस्वती व वालशास्त्रीजी को खडा करके सुनिएगा तो भी आप कुछ समझ सकेंगे। भला विचार तो कीजिए कि आप उन पुस्तकों को पढे बिना वेद और ब्राह्मण पुस्तको का कैसा आपस में संबंध, क्या-क्या उनमे है और स्वतः प्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद और परत प्रमाण और ऋषि-मुनिकृत ब्राह्मण पुस्तक है। इन हेतुओं मे क्या-क्या सिद्धात सिद्ध होते है और ऐसे हुए बिना क्या-क्या हानि होती है, इन विद्या-रहस्य की बातों को जाने बिना आप कभी नही समझ सकते।

(सं० 1936, सप्तमी, शनिवार, सन् 1879)

—दयानंद सरस्वती

'पाठशालाएँ खोलो। हिंदी में विज्ञापन दो। गुरुकुलों की स्थापना करो, ताकि वहाँ से शिक्षित विद्यार्थी निकले और आर्य-पताका फहराएँ।' यही उनकी कर्मभूमि की विशेषता थी।

स्वामीजी की प्रेरणा से कई प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ निकली, जिनमें 'आर्य दर्पण', 'आर्य भूषण', 'भारत-सुदशा प्रवर्तक' प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'कवि-वचन-सुधा' मे स्वामीजी के विज्ञापन सस्कृत और आर्यभाषा में प्रकाशित हुए। हिंदी विज्ञापनो से हिंदी का सशक्तीकरण होता है। चारों वेदो के प्रकाशन हेतु उनका एक विज्ञापन दृष्टव्य है—

'चारों वेदों का भाष्य करने का आरभ मैंने किया है। सो सब सज्जन लोगो को विदित हो कि वह भाष्य सस्कृत और आर्यभाषा, जो कि काशी-प्रयाग आदि मध्य देशों की है, इन दोनों भाषाओं मे बनाया जाता है। इसमें संस्कृत भाषा भी सुगम रीति की लिखी जाती है और वैसी आर्यभाषा भी सुगम लिखी जाती है। सस्कृत ऐसी सरल

ह कि जिसको साधारण संस्कृत का पढने वाला भी वेदो का अर्थ समझ ले तथा भाषा का पढने वाला भी समझ लेगा।'

ऋग्वेदादि जैसे भाष्यों का विषय बहुत दुरूह रहा, लेकिन स्वामीजी ने उसे सरल शैली में प्रस्तुत किया। स्वामीजी गद्य-ससार के पुरोधा थे। कभी-कभी यह लगता है कि उनका गद्यकार रूप उनके शिक्षाविद् रूप से बहुत व्यापक-विशाल है। उन्होंने छोटे-बडे अनेक प्रकार के तीस ग्रथों की रचना की। सभी विविध विषयो के विविध रूप लेकिन मुख्यतः 'सस्कार-विधि', 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' जैसे ग्रथ गंगा-यमुना और सरस्वतीवत् हैं और उनकी लिखी आत्मकथा उस नदी-तट के समान है जहाँ बैठकर भक्तजन उनकी उद्वेलित जीवन-गाथा को बाँचते चले जाते हैं—कभी सस्वर और कभी मौन भाव से। जैसा कि कहा जा चुका है कि उन्होंने अपने सभी ग्रथ बोलकर लिखवाए हैं, अर्थात् सभी कुछ कठस्थ। हमारे यहाँ कंठस्थ विद्या का अपना माहात्म्य है। विषय धर्म, अध्यात्म और समाज-सुधार से सबधित। क्या इसी आधार पर सभी ने उन्हे उपेक्षित कर दिया है ? यह सवाल मेरे मन में बार-बार उठता रहता है। जब अन्य धार्मिक नेताओं को इतिहास मे सम्मिलित किया जाता है तो स्वामीजी को क्यों नही ? मैडम ब्लैवेट्स्की के शब्दो में—

'शकराचार्य के बाद से भारत मे कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बडा सस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे बड़ा तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियो पर आक्रमण करने मे उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।'

इस प्रकार स्वामीजी द्वारा रचित ग्रंथ त्रिवेणी में अनेक निमज्जित हुए और भाँति-भाँति की मौक्तिक माल बना आर्यसमाज को भेटस्वरूप समर्पित की।

जैसा कि मैंने कहा कि 'सस्कार-विधि', 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' दयानंदजी के ऐसे ग्रंथ हैं जो अपने भीतर गंगा-यमुना को समेटे हुए है और एक पतित-पावन सगम का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि सत्य कहा जाए तो मेरुदड मे ये इडा, पिंगला और सुषुम्ना के समान हैं। इन्हें केवल आतरिक नेत्रो द्वारा ही देखा जा सकता है। जब तक सत्यार्थ का प्रकाश अपने भीतर से अनुभव नही किया जाता, वह बाहरी तौर पर नहीं देखा जा सकता। इसी सत्यार्थ को ऋषि ने प्रकाशित किया है, सत्यार्थप्रकाश है। यह एक ऐसा प्रकाश है जिसमें उनके सभी ग्रथ समाहित हो जाते हैं।

सबसे पहले मैं सत्यार्थप्रकाश की बात करती हूँ। यह एक ऐसा ग्रथ है जिसमें चौदह समुल्लास हैं। ईश्वर के एक से अनेक नामों का उल्लेख करते हुए वे उस युग के नामो धर्मो का खडन-मडन करते ही शिव के चैतन्य रूप का वर्णन करते है। जिसकी तलाश में वे टंकारा के शिवालय से लेकर पर्वतो, गुफ़ाओ, नदियो-नालों,

वैष्णवों-जैनों, ईसाइयों, कबीरपंथियों पर कुठाराघात करते विषपायी बन संसार तजन को बाध्य हो गए हैं। इसी में ही ईश्वर की इच्छा मानकर वे दूसरे धाम को चले गए थे।

इस ग्रंथ का पहला समुल्लास ईश्वर व उसके अनेक नामों से संबंधित है। अपनी जीवन-यात्रा में पड़ने वाले अनेक पड़ावों का मंथन करते हुए वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे वह यह था कि ईश्वर का निज का और बहुत प्यारा नाम 'ओ३म्' है। बाद के नाम धीरे-धीरे स्पष्ट होते जाते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति संबंधों का निर्वाह करते हुए अपने नाना चरित्रों को जीकर पितामह, पिता, पुत्र, पति, भाई, जामाता आदि कई रूपों को सुशोभित करता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपने नाना रूपों को विश्व-भर में प्रकाशित करता है।

आपने न केवल एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की, बल्कि पौराणिक नामों को नई प्रतिष्ठा दी। उन्होंने जोरदार शब्दों में निर्भय होकर कहा, 'जिसका नाम ओ३म् है और जो कभी नष्ट नहीं होता, वही परमात्मा है।' चाहे इस परिभाषा को स्वीकार किया गया या नहीं, यह अलग बात है। यह स्पष्ट कर दिया कि परमात्मा होने की पहली शर्त है कि वह शाश्वत है, आदि-अंत में वह एक-सा ही रहता है और दूसरी शर्त है कि उसका नाम 'ओ३म्' है। जिसका नाम ओ३म् नहीं है वह परमात्मा नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने एक और शंख फूँका कि ईश्वर संपूर्ण जगत् का मित्र और सखा है। वह किसी का भी शत्रु नहीं हो सकता। वह प्रीति करने योग्य है, इसलिए वह मित्र है। इसलिए मनुष्यों को केवल ईश्वर से ही प्रीति रखनी चाहिए, क्योंकि वह कभी भी किसी का शत्रु नहीं है। इनसान तो कभी मित्र और कभी शत्रु।

'वह परम शक्तिशाली, सबके ऊपर विद्यमान है, इसलिए वही ब्रह्म है और इसलिए सब मनुष्यों को उसे नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि वह ब्रह्म है, क्योंकि परम शक्तिशाली है, क्योंकि वह सबके ऊपर विद्यमान है, क्योंकि कोई भी प्राणी उसके तुल्य नहीं है।

प्रचलित अर्थ में रुद्र भले ही शिवजी का पर्याय हो सकता है, पर स्वामीजी ने ईश्वर के रौद्र रूप का बखान करते हुए कहा है, 'दुष्ट कर्म करने वाले को जो रुलाता है वही रौद्र है। दुष्टों को हँसाने वाले को रौद्र कहा ही नहीं जा सकता।'

यूँ तो वायुयान में बैठकर मनुष्य चंद्रलोक तक पहुँच चुका है। वहाँ जीव है या नहीं, इसके बारे में भी कोई निष्कर्ष नहीं निकला। स्वामीजी के शब्दों में, 'जो आनंदमय प्रभु दूसरों को आनंद देने वाला है वही प्रभु चंद्र है।'

'वह कैसे ऋषिवर ?'

'वत्स ! दूसरों को वही आनंद दे सकता है जो स्वयं आनंदपूरित हो। जिसने खुद

आनद को नही जाना, वह आनद दे ही नहीं सकता। इसलिए वह चद्र नही हो सकता।'

एक-एक करके स्वामीजी हृदय-कमल की पखुरियाँ खोलते चले जा रहे थे और प्रकाश फैलता चला जा रहा था। थोडी-थोड़ी देर बाद एक और पखुरी खुलती चली जा रही थी और ईश्वर के बारे मे जानकारी मिलती चली जा रही थी।

'जल और जलचरो में निवास करने वाले प्रभु को ही नारायण कहते है।' भगवान् के नारायण रूप की परिकल्पना ही उन्होने बदल डाली थी। मोक्ष प्राप्त करने के लिए बार-बार उसका स्मरण करना होगा। एक बार कहने से काम नहीं चलेगा। उनकी बात कुछ समझी गई और कुछ बिना समझे रह गई। स्वामीजी को बहुत कुछ कहना था, इसलिए कहते चले गए। पारंपरिक मान्यताओ पर प्रहार कर कुछ नया कहने की क्षमता थी उस व्यक्ति में।

'वह बोधस्वरूप प्रभु, सब जीवो के लिए बोध का कारण इसलिए वह बुद्ध है।'

'और वह बुद्ध ग्रह ?'

'ऐसा कुछ नही है। केवल बोधगम्य ही बुद्ध हो सकता है, उसके अतिरिक्त कुछ और नहीं।' उन्होने अपने शिष्य को समझाते हुए कहा।

स्वामीजी ने यज्ञोपवीत को भले ही परम पवित्र स्वीकार किया हो, लेकिन ईश्वर को भी परम पवित्र माना है, क्योंकि उसका संग कर लोग पवित्र हो जाते है। इसलिए उस ईश्वर का नाम शुक्र है। क्योंकि वह पवित्रतम है। वह शुक्र ही इसलिए है, क्योंकि उसका साथ व्यक्ति को पवित्र बना देता है।

'वह ईश्वर शनि है, क्योंकि वह धैर्यवान् है, सहज प्राप्य है।'

'दुष्टो को छोडने और दुष्टों से छुड़ाने वाला भी ईश्वर है, इसलिए वह राहु है।

'जो सब जगत् का निवास-स्थान, रोग-रहित मुमुक्षुओं को मुक्ति-समय मे सब रोगो से छुडाता है, इसलिए वह केतु है।'

'समस्त सृष्टि को प्रकाशित करता और जीवन देता है, इसलिए वह सूर्य है।'

ग्रहों-नक्षत्रों की यह अद्भुत व्याख्या उस समय के पडितो, पुरोहितो, यजमानों, मठाधीशों को रास नहीं आई। लेकिन स्वामीजी अपनी वाणी को निरंतर प्रवाहित करते जा रहे थे। उनका मानना और कहना था कि 'लोक-लोकातरो को नियमो मे आबद्ध करके सहोदर के समान सहायक होने से वह ईश्वर बंधु है। वह ब्रह्मा से लेकर ऋषि-मुनियो तक का पूज्य है, इसलिए यज्ञ है। वह देने योग्य पदार्थो का ही दाता है, इसलिए वह यज्ञ है, होता है। वही सबको नानाविध अन्यायो से पृथक् कर सब प्राणियों को कर्मफल देने वाला है, इसलिए वह यम है। किसी प्राणी-विशेष पर सवार होकर मृत्यु देने वाला यम नहीं है। उत्पत्ति और प्रलय से बचा रहता है, इसलिए वह शेष है। सभी ऐश्वर्ययुक्त सृष्टि का स्वामी है, भजने योग्य होने से भगवान्, उत्पत्ति

और प्रलय से बचे रहने से शेष, कल्याण-स्वरूप होने से शिव, सभी विद्याओं के उपदेष्टा होने से कवि, सत्याचार के ग्रहण कराने से आचार्य और संतानों का मुख चाहने से वह माँ है।

इस प्रकार का कथ्य ब्राह्मण-पुरोहित, राजा-महाराजा, आर्यसमाज के सभासद सभी श्रवण कर रहे थे, परतु किसी को कुछ समझ नही आया।

'क्या कभी मेरी बातों को लोग समझ पाएँगे ?' दयानद सोचते। इसके सिवा कुछ कर भी नहीं सकते थे वे। बस केवल होंठो से उच्चारण करते थे। नाम लेते थे आपके ग्रथो का। धीरे-धीरे नाम लेना भी बद हो गया और वे पुस्तके अलमारी मे बद हो गई। यदि कुछ दीमक का आहार बनने से बच गई तो मेरे जैसे जिज्ञासु उन्हें थोडी-बहुत देर के लिए पढते और फिर बद करके रख देते। अपनी जिज्ञासाओ को शात करते-करते पता नहीं कोई कहाँ खो गया। मै भी नही जानती। स्वामीजी की गभीर दार्शनिक विचारधाराओं की थाह पाई जा सकेगी ? यह भविष्य ही बताएगा।

लॉर्ड मैकाले का शिक्षा-सूत्र जो था सो था। पर उसे जिस ढोल-धमाके और बाजे-गाजे के साथ प्रचारित किया गया, विशेषकर शैक्षणिक और सामाजिक जगत् मे, उससे संपूर्ण विद्यार्थी-समाज का घोर अहित हुआ। पीढी-दर-पीढ़ी मानसिक रूप से गुलाम होती गई। यदि उसकी शताश शक्ति स्वामीजी की शिक्षा-पद्धति को प्रचारित करने में लगी होती तो संभवतः युवा सैन्य बल इसे खदेडकर फेंक देता। स्वामीजी एक आदर्श साहित्यकार और शिक्षाविद् थे। उन्होंने पारिवारिक व्यवस्था पर घोर आक्रामक शैली मे लिखा—

'वे माता-पिता अपनी सतान के बैरी है जो अपनी संतान को शिक्षा नहीं देते। धन से भी, तन से भी और मन से भी। राजाओं का यह धर्म है कि वे उन लोगो को दडित करे जो सतान को शिक्षित नहीं करते।' उनकी कठोर आज्ञा का पालन यदि किया गया होता तो आज का शिशु-वर्ग न तो उच्छृंखल होता और न ही बात-बात के लिए माता-पिता का नाको दम करता।

स्वामीजी की शिक्षा-प्रणाली अद्भुत थी, जिसका सूक्ष्म विवेचन 'सत्यार्थप्रकाश' मे दिखाई देता है।

'पाँच-पाँच वर्ष के लडके-लडकियो को देवनागरी अक्षरों का ज्ञान कराया जाए। उससे पूर्व माता-पिताओं को चाहिए कि वे अपनी सतानो को गभीर और शिष्ट बनाएँ। माता-पिता, बडों, विद्वानो और गुरुजनों के समक्ष बैठने की शिक्षा दे। राजाओं-विद्वानों आदि द्वारा दिए गए भाषणों को कठस्थ कराएँ। क्रीडा, रोदन, हास्य, हर्ष, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि से दूर रखें। तत्पश्चात् अतिथि, बंधु-बाधव और मृत्यु से बातचीत करने का तरीका सिखाएँ। सामान्य शिष्टाचार के बाद निघटु, निरुक्त,

अप्टाध्यायी कठस्थ करा उसका अर्थ बताएँ।

इस मब अनुशासनबद्ध तरीकों से अध्ययन कराने के तत्पश्चात् माता-पिता अपनी सतानों को आचार्यो को सौंप दे। स्वामीजी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रबल पक्षधर थे। यदि कभी पाठशाला मे पढाने की आवश्यकता आन पडे तो ग्राम से पाठशाला कम-से-कम चार कोस की दूरी पर होनी चाहिए। लडकियो को विदुषी स्त्रियॉ और लड़कों को विद्वान् आचार्य अध्यापन करे। जो यज्ञोपवीत धारण न करे उनसे शिक्षा नहीं दिलानी चाहिए। दुष्टाचारियों से कदापि शिक्षा न दिलाएँ। शिक्षकों का चाहिए कि वे दर्शन, स्पर्शन, एकात सेवन, एकांत भाषण, विषय, परस्पर क्रीडा, विषय का ध्यान और विषय का संग आदि से दूर रहे। उन्हे यह भी चाहिए कि माता-पिता और बच्चो को इस दौरान न तो मिलने दिया जाए और न ही पत्र-व्यवहार करने दिया जाए। भ्रमण करते समय भी विद्यार्थियों के साथ-साथ अध्यापक रहे। सभी को तुल्य वस्त्र, भोजन और आसन दे। राजकुमार और साधारण विद्यार्थी में किसी भी प्रकार का भेदभाव न करें। यज्ञ-सध्यादि मत्रो को भी कठस्थ कराया जाए।

कठोर अनुशासन मे रहकर चार वर्ष के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थियों का अध्यापन करे। एक-एक वेद पर बारह वर्ष अध्ययन करें-कराएँ। उन्हे सांगोपाग पढाया जाएं। प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के बाद विद्यार्थी एक वर्ष मे अष्टाध्यायी, महाभाष्य, व्याकरण छंद ग्रथ और श्लोक रचना विधि सिखाई जाए। इन सभी वेदो तथा अन्य ग्रंथो के पश्चात् आयुर्वेद का अध्ययन करना चाहिए। लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य; शरीर-देश-काल वस्तु का अध्ययन चार वर्ष तक करे, साथ ही चरक, सुश्रुत ग्रथों का अध्ययन भी करें।

आयुर्वेद अध्ययन के पश्चात् राजकुमारो को विशेष रूप से राजा-प्रजा सबंधी शिक्षा दी जाए। अस्त्र-शस्त्र विद्या और व्यूहो का अभ्यास कराया जाए। श्रेष्ठो का पालन और दुष्टो के लिए दड-विधान की शिक्षा भी उन्हे दी जाए। राजविद्या को दो वर्ष सीखकर तत्पश्चात् गाधर्व वेद और गायन विद्या का अध्ययन करें। स्वर, राग, रागिनी, समय, ताल, ग्राम तान वादन, नृत्य, गीत आदि सीखें और विशेप रूप से साम-गान सीखें।

तत्पश्चात् शिल्प-विद्या, क्रिया-कौशल, ऐश्वर्य बढ़ाने वाले नानाविध पदार्थो का निर्माण करें। उसके पश्चात् सूर्य-सिद्धात, ज्योतिप, बीजगणित, अकगणित, भूगोल, खगोल, भूगर्भ विद्या सीखें। उसके बाद हस्त या यत्र कला, ग्रह-नक्षत्र, जन्म-पत्र, राशि-मुहूर्त आदि फल के विधायक ग्रंथो को बीस वर्षो में पढें। स्वामीजी ने स्त्री शिक्षा पर विशेष वल दिया है। राजपुरुषों की स्त्रियॉ भी धनुर्वेद की ज्ञाता हुआ करती थी।

इस प्रकार गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् व्यक्ति को जीवन-क्षेत्र मे

प्रवेश करना चाहिए। काश कि इन शिक्षाओ को ध्यान से पढा जाकर उस पर अमल किया जाता।

इसी प्रकार स्वामीजी ने विवाह के लिए समान गुण-व्यवहारादि पर बल दिया है, क्योंकि उनकी कल्पना का सुखद गृहस्थ कुछ और ही था। उन्होंने दो बातो पर विशेष बल दिया। पहली यह कि चाहे कोई परिवार कितने ही धन-धान्य, गाय-अजा, हाथी-घोडे राज्यादि से समृद्ध हो, तब भी अनमेल विवाह नहीं करना चाहिए ओर निम्न कुलो का त्याग करना चाहिए—

सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषो से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बडे-बडे लोम, बवासीर, क्षयी, दमा-खाँसी, आमाशय, मिरगी, श्वेत कुष्ठ, गलित कुष्ठ युक्त कुलों की कन्या या वर के साथ विवाह नहीं करना चाहिए।

दूसरी बात यह कि दान की महिमा का बखान करते हुए उन्होंने आदेश दिया—

'ससार के सभी दान जल, अन्न, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण, घृत आदि से वेद-विद्या का दान ही सर्वश्रेष्ठ है। तन-मन-धन से विद्या का दान करें। यूँ ही मूँगा-मोती, स्वर्ण-चॉदी धारण कर देहाभिमानी बन इठलाते न फिरें।'

उन्हें क्या पता था कि वेद-विद्या का दान न कोई देने वाला होगा और न कोई लेने वाला।

शायद ही कोई ऐसा पक्ष होगा जिसे स्वामीजी ने अनदेखा किया हो।

'कन्या शिशुओ के सुंदर नाम रखने चाहिए, क्योकि नामो का प्रभाव व्यक्तित्व पर पडता है। भरणी, रोहिणी आदि नक्षत्रों; तुलसी, गेदा आदि फूलों; गंगा, यमुना आदि नदियों; पार्वती, विंध्या आदि पर्वतों; कोकिला, मैना आदि पक्षियों; दासियो आदि के नाम नहीं रखने चाहिए। सुखदा, यशोदा जैसे कोमल, सुंदर नाम ही कन्याओं को देने चाहिए।'

'अधर्माचरण धीरे-धीरे सुख के मूल को नष्ट करता रहता है।'

'जब तक उत्तम अतिथि नहीं होते तब तक उन्नति नहीं होती।'

स्वामीजी की विषय-वस्तु अत्यंत व्यापक है। कहीं वे आतिथ्य पर बल देते है ओर कहीं राजधर्म की शिक्षा देते दिखाई पडते है। कहीं वे राजा-प्रजा के सबंधो पर अपनी राय देते हैं, कहीं उचित रूप से सेनापतियों, सभासदों और राजाओ के लिए कर्तव्य निर्धारित करते दिखाई देते है। राजाओं को मृगया, चरस, गाँजा, भंग से दूर रहना चाहिए। भूमि, जल और आकाश मार्ग के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए। ऐसा नहीं कि शत्रु हमारी सीमा फलॉग गोलाबारी कर अपने देश लौट भी जाए और हमारे देश की सेना सोती रह जाए। उन्होंने स्पष्ट कहा कि सेनापतियो, सभासदों को चारों वेदों का ज्ञाता होना चाहिए।

जिस आर्यावर्त की परिकल्पना स्वामीजी करते है उसमे केवल शांति की अपेक्षित है। ब्रह्मचर्य से लेकर सन्यास तक सभी को अपने धर्म की रक्षा करनी है। ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य मे तपना है। गृहस्थ को ब्राह्म, दैव, आर्य, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व राक्षस, पैशाच आदि आठ प्रकार के विवाहों द्वारा अपनी गृहस्थीय मर्यादा का निर्वाह करना है। विवाह पूर्व वर-वधू को एकात स्थान मे नही मिलना है। अध्यापकों की उपस्थिति में माता-पिता अथवा आचार्य के यहाँ विवाह का आयोजन करना चाहिए। वानप्रस्थियों को वन में जाकर स्थिर होना है, पवित्रतापूर्वक योगाभ्यास और तपश्चर्या करनी है, वन मे भ्रमण कर प्रकृति से नाता जोडना है। सन्यासियों को भिक्षुक रूप धारण कर निरंतर मोक्ष-प्राप्ति मे व्यस्त रहना है।

न्याय परीक्षा निमित्त स्वामीजी ने जो अत्यत महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने लाने की कोशिश की, वह यह कि अपराधी को दडित करने के लिए साक्षियो की प्रतीक्षा न की जाए और न ही इसकी आवश्यकता है; क्योंकि जितने बलात्कार, काम चोरी, व्यभिचार, कठोर वचन दडनिपातन रूप अपराध हैं वे सब गुप्त रूप से किए जाते हैं। उन्होंने ठोक-बजाकर कहा—

'इन सब कुकर्मो को किसी के सामने नही किया जाता। इसलिए साक्षी की बात करना अत्यत मूर्खतापूर्ण है। इसलिए राजा को चाहिए कि चोर जिस-जिस अग से मनुष्यों मे विरुद्ध चेष्टा करता है उस-उस अग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिए राजा छेदन कर दे।' एक चुनौतीपूर्ण कार्य, जो कि राजा के लिए निश्चित किया गया है वह यह है कि 'धर्म और ऐश्वर्य की इच्छा करने वाला राजा बलात्कार काम करने वाले डाकुओं को दड देने में एक क्षण भी देरी न करे।'

'जो स्त्री जाति-गुण के घमड से पति को छोड व्यभिचार करे राजा उसको बहुत-बहुत स्त्री और पुरुषो के सामने कुत्तों से कटवाकर मरवा डाले।'

'उसी प्रकार जो पुरुष अपनी स्त्री को छोड़ के परस्त्री या वेश्यागमन करे, उस पापी को लोहे के पलंग को अग्नि से तपाकर लाल कर उस पर सुला के जीते को बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर देवे।'

'जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन का बोलने वाला, न डाकू और न राजा की आज्ञा का भग करने वाला है, वही राजा श्रेष्ठ है।'

'राजा का यह परम धर्म है कि वह प्रतिदिन कर्मो की समाप्तियों पर हाथी-घोड़े आदि वाहनों को, लाभ-हानि और ख़जाने को देखा करे।'

'यदि ख़र्च ज़्यादा हो तो ?'

'जो राजा आय से ज़्यादा ख़र्च करे उसे भी दंडित करना चाहिए।' स्वामीजी का विचार था।

'राजा को सभा दड दे। क्योंकि राजा भी पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। यदि उसे ही दड न दिया जाए और वही दड न माने तो दूसरे मनुष्य ही दड को क्या मानेगे ?'

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर आज के संदर्भ में हर मंत्री को देना ही होगा। यदि राजा ही घोटाले मचाएगा तो देश में चोर-डाकुओ का आधिपत्य होगा ही।

'जो-जो नियम राजा और प्रजा के लिए सुखकारक और धर्मयुक्त समझें उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बाँधा करे। यह ध्यान रखा जाए कि बाल्यावस्था में विवाह न करने दे। व्यभिचार और बहु-विवाह को बद करे।'

'राजा तो ईश्वर का अवतार है। उसे क्यों दंडित किया जाए ?'

'वह ईश्वर का अवतार नही है। अवतार मान लिया जाता है। वह भी सौभाग्यशाली व्यक्ति है अन्य मनुष्यो की तरह।'

'पता नही मेरी बात कोई समझेगा या नही। परतु मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि ईश्वर दयालु और न्यायकारी एक साथ नही हो सकता। यदि वह दया करता है तो न्याय छूट जाता है और यदि वह न्याय करता है तो दया छूट जाती है। जिसने जैसा बुरा कर्म किया हो उसे वैसा ही दड मिलना चाहिए। ईश्वर की एकमात्र पूर्ण दया तो यह है कि उसने सभी जीवों के निमित्त जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न कर दान मे दे रखे हैं—जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र व अन्य वस्तुएँ। परमेश्वर तो सभी की भलाई चाहता है। इसलिए अलग-अलग प्राणियो के लिए अलग-अलग खाद्य पदार्थों की सृष्टि की है। जलचर, आकाशचर और भूमि पर रहने वाले प्राणियो की आवश्यकतानुरूप व्यवस्था करना ही ईश्वर की दया है।

'बार-बार ईश्वर की स्तुति पर बल देता हुआ मै सुख के दाता, आनदस्वरूप परमात्मा की स्तुति करता हूँ कि वह प्राणिमात्र को पवित्र करे; श्रेष्ठ मार्ग मे सपूर्ण प्रज्ञानो को प्राप्त कराए और कुटिल पापाचरण रूप मार्ग से पृथक् करे।'

ऐसी प्रार्थना ईश्वर से कभी नहीं करनी चाहिए कि तुम हमारे शत्रुओं का नाश कर सब कुछ हमारे अधीन कर दो। ईश्वर ऐसी प्रार्थना कभी स्वीकार नही करता और न ही वह मूर्खतापूर्ण प्रार्थनाएँ स्वीकार करता है। यदि कोई यह प्रार्थना करे कि हे परमेश्वर ! आप हमें रोटी बनाकर खिलाइए, मकान मे झाड़ू लगाइए, वस्त्र धो दीजिए और खेती-बाड़ी भी कीजिए, तो परमेश्वर उसकी मूर्खता पर हँसेगा। पूर्ण ज्ञानी ईश्वर को यह मालूम है कि कब, किसे, क्या चाहिए। इसलिए वह अपने शक्तिरूप हाथ से सबकी इच्छाएँ पूर्ण करता है।

किसी भक्त के मुख से यह प्रश्न निकला कि 'ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है या नही ?'

'कदापि नही। जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाए। सब मनुष्य महापापी हो जाएँ। पाप करते रहे और क्षमा पाते रहे। इसलिए सब कर्मो का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।'

एक अरब छियानबे करोड, कई लाख और कई सहस्र वर्ष पूर्व हुई जगत् की उत्पत्ति के बारे मे स्पष्ट करते हुए स्वामीजी का मानना है कि सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही वेदो का प्रकाश हुआ था। सृष्टि का सबसे सूक्ष्म टुकडा काटा नही जा सकता, उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, दो अणुओ का द्व्यणुक, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल और पॉच द्व्यणुक की पृथ्वी आदि पदार्थ बनाए गए हैं।

'जो लोग शेष सर्प, बैल की सीग और कछुए की पीठ पर पृथ्वी को स्थित बतलाते है उनसे पूछना चाहिए कि पशुओं के माता-पिता के जन्म के समय पृथ्वी कहॉ टिकी थी और दूसरी बात यह कि ये पशु कहॉ टिके है ? बैल वाले मुसलमान तो चुप हो जाएँगे, परंतु सर्प वाले कहेंगे कि सर्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर और वायु आकाश मे ठहरा है। कश्यप मरीचि, मरीचि मनु, मनु विराट् और विराट् ब्रह्मा का पुत्र, ब्रह्मा आदि सृष्टि का जनक। जब शेष के जन्म से पूर्व पाँच पीढ़ियॉ हो चुकी थी तब पृथ्वी किसने धारण की थी ? अर्थात् कश्यप के जन्म के समय मे पृथ्वी किस पर थी ?'

'और यह आर्यावर्त क्या है ?' वत्स ने जिज्ञासा की।

'आर्य नाम विद्वान् का और इससे विपरीत जनों का नाम दस्यु था। देवासुर सग्राम मे देव विजयी और असुर पराजित हुए थे। आर्यावर्त के बाहर चारो ओर जो हिमालय के पूर्व आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान देश मे रहने वाले मनुष्य ही असुर हैं। जो आर्यावर्त देश से भिन्न है वे दस्यु देश और म्लेच्छ देश कहाते है। आर्यावर्त की सूध पर नीचे रहने वालो का नाम नाग और उस देश का नाम पाताल इसलिए कहते है, क्योकि वे देश आर्यावर्तीय मनुष्यों के पाद तले हैं। वहॉ नाग नाम वाले पुरुष के वंश के राजा होते थे। उसी की राजकन्या उलूपी से अर्जुन का विवाह हुआ था। इसमे यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीचादि दस, इनके स्वायभुवादि सात राजा और उनकी सतान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्यावर्त के प्रथम राजा हुए उन्होंने ही आर्यावर्त बसाया है।'

वत्स—'अब के आर्य राजा कौन हैं ?' उसके स्वर में विनम्रता थी।

'अब अभाग्योदय से और आर्यो के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों की तो बात ही क्या, आर्यावर्त मे भी आर्यो का अखड, स्वतत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है दुर्दिन जब आता है तब को अनेक प्रकार का

कष्ट भोगना पडता है। स्वदेशी राज्य ही सर्वोपरि और उत्तम है। इसलिए जो कुछ वेदादि शास्त्रों में लिखा है उसी का सम्मान करना ही भद्र पुरुषों का काम है।'

ऋषि कुछ समय के लिए मौन हो गए और वत्स किसी गहरी सोच में डूब गया। जिस समय ऋषि आर्यावर्त की बात कह रहे थे उस समय वत्स सूर्य और चॉद की दुनिया मे खोया हुआ था। उसके मन में तरह-तरह के सवाल उमड रहे थे। ऋषि स एक बार फिर पूछा उसने--

'गुरुदेव ! सूर्य, चद्र और तारे क्या वस्तु हैं ? उनमे मनुष्यादि सृष्टि है या नही ?'

ऋषि ने एक बार आकाश की ओर देखा और अपने मेधावी छात्र की जिज्ञासा शात करते हुए कहा, 'ये सब भूगोल लोक है और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती हे, क्योकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चंद्र और सूर्य, नक्षत्र का वसु नाम इसलिए है क्योकि इनमे सब पदार्थ और प्रजा बसती है और ये ही सबको बसाते है। परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो ये सब लोक भी इससे शून्य नहीं हो सकते।'

अपनी बात को समापन की ओर ले जाते हुए गुरुदेव ने वत्स की पीठ थपथपाकर कहा--

'जैसे राजा के अधीन प्रजा होती है वैसे ही परमेश्वर के अधीन जीव और जड पदार्थ हैं। इसलिए जीव कर्म करने में स्वतंत्र परतु कर्मो के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतत्र है।'

गुरु वाचन और शिष्य श्रवण मे व्यस्त थे।

रात्रि से सुबह तक वत्स गहरी नींद में सोया, क्योकि उसकी जिज्ञासा शांत हो चुकी थी। लेकिन सुबह उठते ही नई अतृप्ति। सूर्य अपने रथ पर सवार हो आकर आगे बढ चुका था। पक्षी भी चहचहाने के बाद वृक्षों पर जा बैठे थे। गुरुदेव ध्यानादि से उठकर अध्ययन में व्यस्त थे और वत्स संध्या-वदन के पश्चात् अपना आसन ले गुरु के समीप पहुॅच गया।

वह सोच रहा था सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश के बारे मे। उसने शका प्रस्तुत की--

'गुरुदेव ! जन्म एक है या अनेक ?'

'अनेक ।' ऋषि ने उत्तर दिया।

'तब पूर्व-जन्म और मृत्यु की बातें स्मरण क्यों नहीं रहती ?'

'देखो बेटे ! जीव अल्पज्ञ है, इसलिए वह स्मरण रख ही नहीं सकता। पूर्व-जन्म की तो बात ही दूर, इस जन्म की भी एक से पॉच वर्ष तक की बचपन में घटित बाते याद नहीं रख सकता। यदि तुमसे कोई पूछे कि दस वर्ष दसवें मास की दसवीं तारीख

का सुबह तुम क्या खा रहे थे, तो तुम्हें बिलकुल याद नहीं होगा। यदि स्मरण नहीं होता है तो इसी में जीव सुखी है। नहीं तो सभी जन्मों के दु.खो को देख-देख पीडित होकर मर जाता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नही जान सकता, क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नही।'

वत्स को कुछ ज्यादा समझ में नही आया। उसने पूछा, 'सभी को सुख-दुःख एक-सा है। बड़े को बडा और छोटे को छोटा दुःख। क्या थोडी देर के लिए यह सुख-दु ख बदला नही जा सकता ?'

'ये सब मूर्खतापूर्ण बाते है। अज्ञानी ही ऐसी बातें करते है। यदि किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बन जा और कहार से कहे कि तू साहूकार बन जा, तो ऐसा कभी नही हो सकता, क्योंकि सभी साहूकार बनना चाहेंगे, कोई भी कहार बनना नहीं चाहेगा।

'एक बात और। एक जीव विद्वान् पुण्यात्मा श्रीमान् राजा की रानी के गर्भ मे आता है और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में। एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। जब वह दूध पीना चाहता है तो उसके साथ मिश्री आदि मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसे प्रसन्न रखने के लिए नौकर-चाकर, सवारी, खिलौने आदि से लाड़ लडाकर आनंद की बाते की जाती हैं। दूसरे का जन्म जगल मे होता है, स्नान के लिए जल भी नही मिलता। जब दूध पीना चाहता है तब दूध के बदले में घूँसा, थपेड़ा आदि से पीटा जाता है। अत्यत आर्त स्वर में रोता है। इसलिए पूर्व-जन्म के पुण्य-पापानुसार वर्तमान जन्म और भविष्यत् जन्म होते हैं।'

जन्म-जन्मांतरों के सुख-दुःख की बात अभी चल ही रही थी कि वत्स के हृदय में मृत्यु की बात उपज आई। मृत्यु और मोक्ष दोनों साथ-साथ चल रहे थे। उसका अगला प्रश्न था—

'मुक्ति एक जन्म में होती है या अनेक जन्मो में ?'

'अनेक जन्मों में। जिसे तुम मुक्ति मानते हो वह मुक्ति नहीं, जीव का प्रलय है। मुक्ति मे जीव अलग रहता है ईश्वर से। इस प्रलयावस्था को प्राप्त करने के लिए भी व्यक्ति को परमेश्वर की आज्ञापालन, उत्तम कर्म, सत्सग, योगाभ्यास करना चाहिए।'

ऋषि ने फिर कहा, 'स्वभाव से सभी जीव सुख-प्राप्ति की इच्छा और दुःख से दूर रहना चाहते हैं, परंतु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते तब तक न तो उन्हे सुख मिल सकता है और न ही वे दुःख से छूट सकते हैं। जो नर शरीर से चोरी परस्त्रीगमन श्रेष्ठों को मारने आदि का दुष्ट कर्म करता है उसको वृक्षादि

स्थावर का जन्म, वाणी से किए पाप-कर्मो से पक्षी और मृगादि तथा मन से किए गए दुष्ट कर्मो से चाडाल आदि का शरीर मिलता है। सत्त्व, रज, तम की स्थितियो स गुजरते हुए व्यक्ति जब आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापो से मुक्ति प्राप्त करता है, तभी उसका श्रेष्ठ पुरुपार्थ होता या माना जाता है।

'पुरुषार्थ तो विद्या से प्राप्त होता है। जब तक विद्या नही होगी तब तक पुरुपार्थ नही होगा। विद्या-विज्ञान रहित सौ वर्ष का व्यक्ति भी बालक के समान है। अधिक वर्षो के होने, सफेद बालो के होने, अधिक धन और बड़े कुटुब से कोई व्यक्ति वृद्ध नही हो जाता। कम आयु वाला विद्वान् व्यक्ति ही वृद्ध कहलाने योग्य है।'

'श्रीकृष्ण और अर्जुन अश्वतरी (अग्नियान नौका) पर सवार होकर महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में पाताल से उद्दीलक ऋपि को ले आए थे। उस समय भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारो दिशाओं के राजाओं-महाराजाओं को निमंत्रण देने गए थे।'

जिन पंडितों ने सागर पार जाने वालो को जाति से बहिष्कृत कर दिया या उन्हे अछूत करार दिया उन पोंगा पंडितों पर स्वामीजी ने जमकर प्रहार किया। 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम दस समुल्लासों मे अध्यात्म और अतिम चार समुल्लासो मे खडन-मडन, वह भी हिंदी को अपनाकर। दयानंदजी गुजराती-भाषी थे और वे निरतर सस्कृत भाषा म ही बोला करते थे, इसलिए उनकी हिंदी पर संस्कृतनिष्ठता का भरपूर प्रभाव दिखाई देता है। वे तत्सम शब्दो का ही प्रयोग किया करते थे, तद्भव का बहुत कम। भारतेदु हरिश्चंद्र तद्भव शब्दो का प्रयोग करते थे और शिवप्रसाद सितारेहिंद उर्दू शब्दों के पक्षधर थे। जैसा कि मैं कह चुकी हूँ कि वे अग्रेजो को खुश करने में लगे रहते थे और उनका यही एक काम था।

स्वामीजी को सर्वपुनरपि, पुरश्चरण, पाषंड आदि शब्द बहुत प्रिय थे। इनका वे बहुलता से प्रयोग किया करते थे। इस प्रकार स्वामीजी की हिंदी भाषा पर सस्कृत और गुजराती का भरपूर प्रभाव रहा। इसके अतिरिक्त कुरान और मुस्लिम धर्म का खडन करने के लिए 'मज़हब' और 'फ़रिश्ता' जैसे उर्दू शब्दों का प्रयोग करने मे भी उन्होने उदारता का परिचय दिया है। मथुरा उनकी अध्ययन-भूमि रही है, इसलिए उनके व्याख्यानों और लेखन मे ब्रजभाषा भी प्रचुर रूप मे पनपी है। जीवन-भर यात्रा करते रहने से उनके साहित्य मे आम बोलचाल के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। स्वामीजी ने अपने गाभीर्य, सारल्य, ओजस्विता, सशक्तता और रोचकतायुक्त भावो तथा उनकी अभिव्यक्ति से हिंदी गद्य को समृद्ध-सपन्न बनाया है।

अपने समय के लेखकों से वे अलग थे। उनकी अपनी शैली और अपनी भाषा थी। यह भाषा केवल दयानंद की ही हो सकती थी, किसी और की नहीं। उन्होने जो भी खट्टे तीखे और मीठे अनुभव प्राप्त किए उसी की शक्ति उनकी शैली में आ गई

थी। कहीं वे योद्धा की तरह सिहनाद करते रहे और कहीं व्यंग्यात्मक शैली में नाक-कान काटते रहे। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है–

'जब सवत् 1914 के वर्ष में तोपों के मारे मदिर, मूर्तियाँ अग्रेजो ने उडा दी थीं तब मूर्ति कहाँ गई थी ? प्रत्युत वाघेर लोगो ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा। परतु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता। और वे भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाए उसके शरणागत क्यों न पीटे जाएँ ।'

'धिक्कार है पोप और पोप रचित इस महा असंभव लीला को जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रखा है। भला इन महाझूठ बातो को वे अधे पोप और बाहर-भीतर की फूटी आँखो वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बडे ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य है या अन्य कोई ''' ।'

श्राद्ध-तर्पण का उपहास करते हुए स्वामीजी लिखते हैं–

'जब जगल में आग लगती है तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते है। उनको पकडने के लिए असंख्य यम के गण आवे तो वहाँ अधकार हो जाना चाहिए और जब आपस मे जीवों को पकड़ने को दौडेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जाएँगे तो जैसे पहाड के बडे-बडे शिखर टूटकर पृथ्वी पर गिरते है वैसे उनमे बडे-बडे अवयव गरुण-पुराण के बाँचने-सुनने वालो के आँगन मे गिर पड़ेगे तो वे दब मरेंगे या घर का द्वार अथवा सड़क रुक जाएगी तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे ? श्राद्ध, तर्पण, पिंड-प्रदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता, किंतु मृतकों के प्रतिनिधि पोपजी के उदर और हाथ में पहुँचता है। जो वैतरणी के लिए गोदान लेते है वह तो पोपजी के घर में पहुँचता है। वैतरणी पर गाय नही जाती। पुनः (जीव) किसकी पूँछ पकडकर तरेगा और हाथ तो यही जलाया या गाड दिया गया, फिर पूँछ को कैसे पकडेगा ?'

'मथुरा तीन लोक से न्यारी तो नही परंतु उसमें तीन जंतु बडे लीलाधारी है कि जिनके मारे जल, थल और अतरिक्ष मे किसी को सुख मिलना कठिन है। एक चौबे जी–कोई स्नान करने जाए, ये अपना कर लेने को खड़ा रहकर बकते रहते हैं–लाओ भाँग, मर्ची और लड्डू खाए-पिए, यजमान का जय-जय बनाएँ-मनाएँ। दूसरे जल के कछुए–काट ही खाते है, जिनके मारे स्नान करना भी कठिन है। तीसरे आकाश के ऊपर लाल रग के बदर पगडी, टोपी पहने और जूते तक न छोडें, काट खाएँ, धक्के दें, गिराकर मार डाले। और ये तीनों पोप और पोपजी के चेलों के पूजनीय है।'

जैसा कि मैंने कहा कि उनकी अपनी शैली थी, अपना ही अलग व्यक्तित्व, जो समकालीन साहित्यकारों के साथ बँधा-जुड़ा रहता था। वे अपने समकालीन साहित्यकारो

के प्रति आदर भाव रखते थे। भारतेदु हरिश्चंद्र और शिवप्रसाद सितारेहिंद की विद्वत्ता के प्रति वे आकर्षित थे। पडित प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' पर स्वामीजी का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रतापनारायणजी के प्रसिद्ध भजन 'पितु मात सहायक स्वामि सखा तुम ही इक नाथ हमारे हो' पर दयानदजी का गहरा प्रभाव है। भले ही भारतेदुजी शुरू मे स्वामीजी के विरोधी रहे हो, लेकिन बाद मे व उनसे इतने अधिक प्रभावित थे कि जब दूसरी बार स्वामीजी काशी पधारे तो भारतेदुजी उनका स्वागत करने स्टेशन पर आए थे।

दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक, शहीद रामप्रसाद बिस्मिल और महात्मा गाधी तो स्वामीजी से प्रभावित थे ही, स्वामी श्रद्धानंद, पडित मदनमोहन मालवीय और प्रेमचंद भी कम प्रभावित नहीं थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह उन्होंने न केवल हिंदी गद्य का सुधार किया बल्कि साहित्य मे पवित्रतावादी दृष्टिकोण अपनाकर रीतिकालीन सौदर्यमय दृष्टिकोण को भी जड से उखाड फेंका। इस काल के ठीक बाद वाले समय में हिंदी-भाषी क्षेत्र में स्वामीजी के प्रभाव से द्विवेदीयुगीन कविगण नारी के कामिनी रूप से ऑखे चुराने लगे थे। रामधारीसिह 'दिनकर' आगे लिखते है कि इस युग के कवियों को शृंगार की कविता लिखते समय यह प्रतीत होता था जैसे स्वामी दयानद पास ही खड़े सब कुछ देख रहे हों। इसी भय से छायावादी कवि भी प्रत्यक्ष नारी के बदले 'जूही की कली' अथवा 'विहंगनियॉ' का आश्रय लेकर अपने भावों का रेचन करने लगे। इसका प्रभाव यह हुआ कि साहित्य में सयमित-मर्यादित दृष्टिकोण पनपने लगा। मैथिलीशरण गुप्त ने भी स्वामीजी से प्रेरणा पाकर अतीत के झरोखों से देखने की कोशिश की।

कभी-कभी वे अपने सहकर्मियो की अशुद्ध भाषा देखकर कह दिया करते—

'भीमसेन अब भाषा बहुत ढीली बनाता है। उसको शिक्षा कर देना कि भाषा के बनाने में ढील न हुआ करे'''।'

'''हमने भीमसेन के शोधे गए पुस्तक देखे तो बहुत भूल निकलती है। इससे ज्ञात होता है कि वह बहुत गाफ़िल है।'

'और अब वह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता जैसी कि पहले बनाता था। जैसी कि प्रतिदिन उन्नति करनी चाहिए, वह प्रतिदिन गिरता जाता है ``कही अपनी ग्रामणी भाषा लिख देता है और 'च' का अर्थ भी 'और' करना चाहिए, वह 'भी' कर देता है।'

इस प्रकार स्वामीजी एक महान् साहित्यकार थे। उन्होंने न केवल प्रांजल भाषा अपितु स्वस्थ-शिष्ट भाव-सस्कार भी प्रदान किए। गद्य, पत्र, जीवनी, विज्ञापन, आलेख और भाषणादि से आपने हिंदी साहित्य को सपन्नता प्रदान की।

एक दृष्टांत कथा

अंधेर नगरी गवर्गंड राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त होकर प्रजापालनादि उचित समय में ठीक-ठाक रहता था। उसकी नगरी का नाम 'प्रकाशवती', राजा का नाम 'धर्मपाल', व्यवस्था का नाम 'यथायोग्य करनेहारी' था। वह तो मर गया, पश्चात् उसका लड़का, जो महाअधर्मी तथा मूर्ख था, उसने गद्दी पर बैठकर सभा से कहा कि 'जो मेरी आज्ञा माने वह मेरे पास रहे और जो न माने वह यहाँ से निकल जाए।' तब बड़े-बड़े धार्मिक सभासद बोले कि 'जैसे आपके पिता सभा की सम्मति के अनुकूल बर्तते थे, वैसे ही आपको बर्तना चाहिए।' 'उनका काम उनके साथ गया, अब मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगा।' सभा ने कहा, 'जो आप सभा का न करेंगे तो राज्य का नाश अथवा आपका ही नाश हो जाएगा।' राजा—'मेरा तो जब होगा सो होगा, परतु तुम यहाँ से चले जाओ, नही तो तुम्हारा नाश तो मै अभी कर दूँगा।' सभा ने कहा, 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः। चलिए, यहाँ अपना निर्वाह न होगा।' वे चले गए और महामूर्ख, धूर्त, खुशामदी लोगो की मंडली उसके साथ हो गई। राजा ने कहा कि 'आज से मेरा नाम 'गवर्गंड', नगरी का नाम 'अंधेर' और जो मेरा पिता और सभा करती थी उससे मै सब काम उलटा ही करूँगा। जैसे मेरा पिता और सभासद रात में सोते और दिन में राज्य करते थे वैसे हम लोग दिन में सोवे और रात मे राज्य करेगे। उनके राज्य में सब चीज अपने-अपने भाव पर बिकती थी, हमारे राज्य मे केसर-कस्तूरी से ले के मिट्टीपर्यंत सब चीज़ एक टके सेर बिकेगी।' जब ऐसी प्रसिद्धि देश-देशांतरो में हुई तब किसी स्थान में दो गुरु-शिष्य वैरागी अखाड़ो मे मल्लविद्या करते और पाँच-पाँच सेर खाते थे। चेले ने गुरु से कहा कि 'चलिए, अंधेर नगरी मे, वहाँ दस टको में दस सेर मलाई आदि माल चाव से खाएँगे।' गुरु ने कहा कि 'वहाँ गवर्गंड के राज्य में कभी न जाना चाहिए। किसी दिन खाया-पीया सब निकल जाएगा।' फिर जब चेले ने हठ किया तब गुरु भी मोह के साथ चला गया। अंधेर नगरी के बगीचे मे जाकर विश्राम किया। खूब माल चाबते और कुश्ती करते। इतने मे आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली

ले के किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच मे उचक्के आकर रुपयों की थैली छीनकर भागे। उसने जब पुकारा तो थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है ? बात मालूम होने पर सिपाही धीरे-धीरे चल के किसी भले आदमी को पकड़ लाए कि तू ही चोर है। उसने बहुत खुशामद की, पर सिपाही उसे पकडकर राजा के पास ले गए और कहा कि इसने हज़ार रुपयो की थैली चुरा ली है। वह बेचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूँ। किसी ने न सुना। झट हुक्म हुआ कि उसे सूली पर चढा दो। सूली मोटी और आदमी पतला था, इसलिए सूली पर न चढ़ सका। नौकरों ने जाकर राजा से कहा। राजा ने कहा कि उसे उतारकर किसी मोटे आदमी को सूली पर चढा दो। सिपाही ने गुरु-चेले को पकडा और सूली पर ले गए। बचने का कोई तरीका नहीं था। दोनो ने इशारों मे बातें की। तब सूली के पास पहुँचे तो दोनों लंगोट बॉध के मिट्टी लगाकर खूब लड़ने लगे।

गुरु ने कहा, 'सूली पर मै चढूँगा।'

चेले ने कहा, 'मेरे होते तू सूली पर कैसे चढेगा ? यह तो मेरा धर्म है।'

गुरु ने कहा, 'मै जीते-जी तुझे सूली पर नही चढ़ने दूँगा। मेरे पीछे भले ही चढ जाना। मुझे सूली पर चढने दे।' और वह सूली पर चढने लगा। सिपाही कामदार तमाशा देखते थे। उन्होंने कहा कि 'तुम सूली पर चढने के लिए क्यों लडते हो ?' तब दोनों साधु बोले कि 'हमको ऐसा समय मिलना दुर्लभ है।' उधर राजा खुशामदियों से घिरे बैठे थे।

खुशामदी—ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि कभी किसी बात की चिंता न करे, रात-दिन अपने सुख में मगन रहें।

राजा—क्यों जी ! क्या कभी मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे तुल्य सभासद हुए होंगे?

खुशामदी—नहीं जी, कदापि नही, न हुआ, न होगा।

राजा—क्या ईश्वर भी हमसे उत्तम होगा ?

खुशामदी—कभी नहीं हो सकता। उसको किसने देखा है ? आप तो साक्षात् ईश्वर है।

प्रातःकाल को सायंकाल मानकर सब सोने चले गए। इतने मे सिपाहियो ने आकर साधुओं के झगडे की बात कही। राजा सभासद के साथ वहाँ पहुँचा और कहा, 'तुम सूली पर चढने मे क्यों सुख मानते हो ?'

साधु—तुम हमसे कुछ मत पूछो, हमे चढ़ने दो।

राजा—सूली पर चढ़ने से क्या फल मिलेगा ?

साधु—जो कोई मनुष्य इस समय में सूली पर चढकर प्राण छोड देगा, वह

चतुर्भुज होकर विमान मे बैठ के आनदरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा।

राजा--अहो । ऐसी बात है तो मै ही चढूँगा, प्राण त्यागूँगा।

ऐसा कहकर राजा सूली पर चढ गया और प्राण त्याग दिए।

चेला--अब भाग चलें ?

गुरु--नही, पाप की जड़ राजा मर गया। अब धर्म का राज्य होगा और हम यही रहेंगे।

उसी समय उसका छोटा भाई बडा विद्वान्, पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद और प्रजा मे सत्पुरुष जो कि उसके पिता के पश्चात् गवर्गड ने निकाल दिए थे, वे सब आ के सुनीति नामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके, उस मुर्दे को सूली पर से उतारकर जला दिया और ख़ुशामदियों की मडली को अत्युग्र दंड दे के कुछ कैद कर दिए और बहुतो को नौका में बैठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपातर मे बंदीखाने में डालकर अत्युत्तम विद्वान् धार्मिको की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टो का ताडन, विद्या, विज्ञान और सत्य-धर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे। जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है तब गवर्गड के सदृश स्वार्थी, अधर्मी, प्रजा का विनाश करनेहारे राजा, राज विद्रोही प्रजा भी होती है। और जब जिस देशस्थ प्राणियो का सौभाग्य उदय होने वाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक, विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करनेहारी राज सहित सभा और प्रीतियुक्त मगलकारिणी प्रजा होती है। जो मनुष्य विद्या कम ही जानता हो परतु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोडकर धार्मिक होके खाने-पीने, बोलने-सुनने, उठने-बैठने, लेने-देने आदि व्यवहार से युक्त यथायोग्य करता है वह कही कभी दुःख को प्राप्त नही होता और जो संपूर्ण विद्या पढ के, पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारो को छोड के दुष्ट कर्मो को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नही हो सकता। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के-लड़की, इष्ट-मित्र, अड़ोसी-पडोसी और स्वामी-भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनद करते रहें।

समाज-सुधारक, इतिहासकार

स्वामीजी ने मबसे पहले भारत को आर्यावर्त कहा और नानाविध अध्ययन करने के पश्चात् कहा। इस देश की गरिमा के सामने और कोई देश टिक नही सकता। उन्होंने डंके की चोट से कहा कि यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल मे दूसरा कोई देश नही है। इसलिए इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है, क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नो को उत्पन्न करती है। सृष्टि से लेकर पॉच सहस्र वर्षो से पूर्व समय-पर्यत आर्यो का सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य था। स्वायभुव राजा से लेकर पाडव-पर्यत आर्यो का सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। उसके बाद आपसी विरोध से लड-भिड़कर नष्ट हो गए, क्योंकि परमात्मा की सृष्टि मे अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगो का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि यह अपनी पूर्व दशा में भी नहीं आ पाया; क्योंकि जब भाई को भाई मारने लगे तो नाश होने मे क्या संदेह है ? इस युद्ध में कुछ योद्धा मर गए और कुछ मारे गए। अविद्वान् गुरु बन गए और उनमें छल-कपट बढता ही गया। ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का प्रबध बॉधने के लिए क्षत्रियों से कहा कि हमी तुम्हारे पूज्य हैं। जब क्षत्रिय सस्कृत विद्या से विहीन हो गए तब उनके सामने जो-जो गप्प मारी गई सो उन्होंने मान ली।

एकबारगी तो वत्स चकरा गया, क्योंकि उसे यही ज्ञात था कि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण और क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय होता है। स्वामीजी इस धारणा को बहुत पहले ठुकरा चुके थे। पूरी ताकत से अधर्मियो पर प्रहार करते चले जा रहे थे। उन्होंने कहा, 'किसी साधु के शिष्य होने पर भी कोई साधु नहीं हो सकता, अपने गुण, कर्म और स्वभाव से होता है। सुना है कि पोप अपने चेलो को कहा करते थे कि तुम अपने पाप हमारे सामने कहोगे तो हम क्षमा कर देंगे। बिना हमारी सेवा और आज्ञा के कोई स्वर्ग में नही जा सकता। जो तुम स्वर्ग मे जाना चाहो तो हमारे सामने जितने रुपए जमा करोगे उतने ही की सामग्री तुम्हे स्वर्ग में मिलेगी। ऐसा सुनकर जब कोई ऑख का अधा और गॉठ का पूरा स्वर्ग मे जाने की इच्छा करके पोपजी को यथेष्ट रुपया देता था तब वह पोपजी ईसा और मरियम की मूर्ति के सामने खड़ा होकर इस प्रकार की हुंडी लिखकर देता था—'हे खुदावंद ईसामसीह ! अमुक मनुष्य ने तेरे नाम पर लाख

रुपए स्वर्ग में आने के लिए हमारे पास जमा कर दिए हैं। जब वह स्वर्ग में आवे तब तू अपने पिता के स्वर्ग के राज्य मे पच्चीस सहस्र रुपयों मे बाग-बगीचा और मकानात, पच्चीस सहस्र मे सवारी-शिकारी, नौकर-चाकर, पच्चीस सहस्र में खाना, कपडा-लत्ता और पच्चीस सहस्र रुपए इसके इष्ट-मित्र, भाई-बंधु आदि के जियाफत के वास्ते दिला देना।' फिर उस हुंडी के नीचे पोपजी अपनी सही करके हुडी उसके हाथ मे देकर कह देते थे कि जब तू मरे तब इस हुडी को क़ब्र में अपने सिरहाने धर लेने के लिए अपने कुटुंब को कह रखना। फिर तुझे ले जाने के लिए फरिश्ते आवेगे तब तुझे और तेरी हुंडी को स्वर्ग मे ले जाकर लिखे प्रमाणे सब चीज़े तुझको दिला देगे।' अब जानो स्वर्ग का ठेका पोपजी ने ही ले लिया है।'

'वैसे ही आर्यावर्त देश में भी पोपजी ने अपनी लीला फैलाकर लोगों को ठगा है। राजा और प्रजा को विद्या न पढने देना, अच्छे पुरुषो का सग न होने देना और बहकाने के सिवा दूसरा कोई काम न करने देना। यह बात ध्यान मे रखना कि जो-जो छल-कपट आदि कुत्सित व्यवहार करते है वे ही पोप कहाते है।'

वत्स चुपचाप सुनता रहा था।

'इन्ही पोपो ने राजाओ के सामने ऐसा भ्रमजाल फैलाकर कहा कि साधुओं-ब्राह्मणों को दडित नहीं करना चाहिए। राजाओ को ऐसा निश्चय कराया कि वे उनके जाल मे फॅस गए। फिर वे चोरी-छिपे मास-मदिरा का सेवन करने लगे। फिर इन्हीं मे से एक वाममार्ग खड़ा किया। 'शिव उवाच', 'पार्वत्यानुवाच', 'भैरव उवाच' नाम लिखकर तंत्र-विद्या शुरू की। वेद-विरुद्ध महाअधर्म कामों को इन्होने धर्म का काम कहा। इन पाखंडियों ने यहाँ तक कह दिया कि रजस्वला के साथ समागम करने से जानो पुष्कर का स्नान, चांडाली से समागम में काशी की यात्रा, कंजरी के साथ लीला करने से अयोध्या तीर्थ, धोबिन के साथ रास रचाने से मथुरा-यात्रा। इन्होने मद्य का नाम रखा 'तीर्थ', मांस का 'शुद्धि', मछली का 'तृतीया', मुद्रा का 'चतुर्थी' और मैथुन का 'पंचमी'। ऐसे-ऐसे नाम धरे कि दूसरा कोई न समझ सके।'

जब स्वामीजी इन वाममार्गियों की पोल खोल रहे थे तो वत्स आश्चर्यचकित हो रहा था। पर अभी तो स्वामीजी को वहुत कुछ कहना था और वे कहे चले जा रहे थे।

'भैरवी चक्र में वाममार्गी लोग भूमि या पट्टे पर एक बिंदु त्रिकोण, चतुष्कोण, वर्तुलाकार बनाकर, उस पर मद्य का घडा रख के उसकी पूजा करते है। फिर एक गुप्त स्थान में स्त्री-पुरुष इकट्ठा होते है। वहाँ एक स्त्री को नंगी कर पूजते हैं और स्त्री लोग किसी पुरुष को नंगा कर पूजती है। किसी की कन्या, बहन, पत्नी मद्य का पात्र और मास लाती है। आचार्य 'शिवोऽहम्' कहकर उसको पी जाता है। बाद मे जूठे पात्र से

सभी पीते है। फिर उन्मत्त होकर कुकर्म करते है। जो हर प्रकार के कुकर्म करे वही वाममार्गियों मे चक्रवर्ती सम्राट् माना जाता है।'

यह सब स्वामीजी ने यूँ ही नही कह दिया था। स्थान-स्थान के तीर्थो, मठो, महतो के पास जाकर देखा था और उसका भडाफोड़ किया था।

उन्होने फिर कहा, 'इन पाखडियो ने ऋषि-मुनियो के नाम से ग्रथ लिखे और कहा कि पशुओ को मारकर होम करने से पशु और राजा दोनो स्वर्ग को जाते है। अरे अक्ल के अंधो ! यदि पशु मारकर अग्नि मे होम करने से पशु स्वर्ग को जाता है तो यजमान अपने पिता आदि को मारकर स्वर्ग में क्यो नहीं भेजते ?'

स्वामीजी तब जैन धर्म की ओर मुड़ते है। 'बौद्धों के इस अनाचार मे जैन धर्म भी शामिल हुआ। कहा जा सकता है कि पोपों के साथ मिलकर बौद्धो और जैनियो ने भी वेद-विरुद्ध भयंकर बाते कहीं।

'सुना जाता है कि गोरखपुर का एक राजा था। उसकी प्रिय रानी का समागम घोडे से कराया गया और वह मर गई। राजा पुत्र को राज्य सौंप वैरागी बन गया और इन नए पोपों की पोल खोली।'

ऋषियो-मुनियो के नाम से ग्रंथ बनाकर बहुत-से पंडितो ने कुकर्म किए। राजा भोज के राज्य में व्यासजी के नाम से किसी ने मार्कडेय और शिवपुराण बनाया। जब राजा भोज को पता चला तो उन्होंने उन पंडितों को हस्तछेदन दंड दिया। और उनसे कहा कि जो कोई काव्यादि ग्रथ बनावे तो अपने नाम से बनावे, ऋषि-मुनियो के नाम से नहीं। उनका मानना था कि यदि ऋषि-मुनियों के नाम से पुराणादि ग्रथ बनाए जाएँगे तो आर्यावर्तीय लोग भ्रमजाल में पड़कर वैदिक धर्मविहीन हो के भ्रष्ट हो जाएँगे।

जैनियो ने भी यह सोचा कि हमे अपने-अपने अवतार बनाकर उनकी जीवनी लिख ग्रथो का निर्माण करना चाहिए। इसी तरह वैष्णव मत का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा कहा गया 'देवी भागवत' मे कि श्रीपुर की स्वामिनी का नाम है श्री। उसी ने सपूर्ण जगत् को बनाया और ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भी सृष्टि की। उनसे कोई पूछे कि उस देवी का शरीर किसने बनाया और उसके माता-पिता कौन थे ? 'देवी भागवत' में देवी की बडाई और शिवपुराण मे शिव की बड़ाई लिखी है। जो रुद्राक्ष की गुठली-राख धारण करने से मुक्ति मिलती है तो राख मे लोटने वाले गधे, सूअर और कुत्तो को मुक्ति क्यों नहीं मिलती ? यदि इन्हें धारण करने से यमराज के दूत डरते है तो सिपाही से क्यो नही डरते ?

इसी प्रकार जगन्नाथपुरी, ज्वालामुखी, हरिद्वार, उत्तरकाशी आदि पर्वतों-समुद्रो के वासी देवी-देवताओं की पोल खोलना केवल स्वामीजी के ही वश की बात थी।

वत्स ने पूछा 'मूर्तिपूजा किसने चलाई महाराज ?'

'जैनियों ने।' उत्तर मिला।

'जैनियों ने कैसे बनाई ?'

'मूर्खता से।'

'मूर्तिपूजा तो सनातन से चली आ रही है। फिर यह असत्य क्यों है ?' वत्स के प्रश्नानर मे स्वामीजी ने कहा–

'सदा मे चला आने वाला सनातन। यदि यह सदा से चला आता होता तो वेद, ब्राह्मणादि पुस्तको मे इसका नाम क्यों नहीं है ? तीर्थो में किसी का पाप-पुण्य नही छूटता। ये दोनो ही मनुष्य के साथ-साथ चलते रहते है। जब तक मनुष्य स्वयं प्रयत्न नहीं करता, पाप छूट ही नहीं सकते। इसी प्रकार गडरिए गुरुओ ने भी अपने चेलों को अधकूप मे धकेला है। लोभी, क्रोधी, कामी, लालची गुरु को तत्काल छोड देना चाहिए; उसे शिक्षा देनी चाहिए और यदि शिक्षा से न माने तो उसे प्रताडित करना चाहिए।'

भागवत के बनाने वाले लाल-बुझक्कडो ने मिथ्या बातें लिखी। उदाहरण के लिए विष्णु की नाभि से कमल, कमल से ब्रह्मा, ब्रह्मा के दाहिने पैर के अँगूठे से स्वायभुव, बाएँ से शतरूपा राणी, ललाट से रुद्र, मरीचि आदि दस पुत्र. उनसे दस प्रजापति उनकी तेरह लडकियो का विवाह कश्यप से, उनमें से दिति से दैत्य, दनु से दानव, अदिति से आदित्य, विनता से पक्षी, कद्रू से सर्प, सरमा से कुत्ते-स्याल, अन्य स्त्रियों से हाथी, घोड़े, ऊँट, गधा, भैंसा, घास-फूस और बबूल वृक्ष कॉटे सहित उत्पन्न हो गए। स्त्री-पुरुष के रजवीर्य से मनुष्य तो बनते हैं, पशु, पक्षी, सर्प आदि कभी नहीं उत्पन्न होते। इन महाझूठ बातो को ये अंधे पोप और अंधे चेले सुनते और मानते है।

'अरे पोपो ! तुम्हें धर्म से क्या वास्ता ? जिसके पीछे लगो उसे बाप बनाओ, जिसका विरोध करो उसे नौकर बनाओ। तुम तो खुशामदी चारणों से भी गप्पी हो।'

स्वामीजी का आक्रोश उन पुजारियो के प्रति ज्यादा रहा जिन्होंने आराध्यो को मदिरों में कैद कर दिया।

'मूर्तिपूजा से श्रीरामचद्र, श्रीकृष्ण, नारायण और शिवादि की निंदा होती है। सब कोई जानते हैं कि वे सभी महाराजाधिराज और सीता, रुक्मिणी, पार्वती आदि महारानियॉ थी। परतु जब उनकी मूर्तियाँ मंदिर आदि मे रखकर पुजारी लोग उनके नाम से भीख मॉगते है कि आओ महाराजा राजाजी, सेठ ! साहूकार ! दर्शन दीजिए, बेठिए, चरणामृत लीजिए, कुछ भेंट चढ़ाइए। इनको राजभोग लगाना है। सीता आदि की नथुनी बनवा दीजिए, वस्त्र बनवा दीजिए।'

जो लोग इनका उपहास करते है उनको दड तो मिलेगा।

मूर्तिपूजा के अतिरिक्त स्वामीजी ने तंत्र-मंत्र पर कुठाराघात करते हुए कहा--

'कुछ पडे मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण प्रयोग करते हैं। जब मारने का प्रयोग करते हैं तब इधर कराने वाले से धन ले के, जिसको मारना है उसका आटे या मिट्टी का पुतला बना के, उसकी छाती, नाभि, कंठ में छुरे प्रवेश कर देते हैं। आँख, हाथ, पग में कीलें ठोकते हैं। भैरव या दुर्गा की मूर्ति बना मांस का होम करते और कहते हैं कि वह आदमी मर गया है।'

इसी प्रकार स्वामीजी ने शैव, वैष्णव, शाक्त की भी खूब ख़बर ली है। तिलकधारियों को लताड़ते हुए वे कहते हैं--

'हम पूछते है कि जब छोटे-से तिलक करने से वैकुंठ में जावे तो सब मुख के ऊपर लेपन करने वा काला मुख करने वा शरीर पर लेपन करने से वैकुंठ से भी आगे सिधार जाते हैं या नहीं ? गाँजा, भाँग, चरस के दम लगाते, लाल नेत्र कर रखते, सबसे चुटकी-चुटकी अन्न-पिसान, कौडी-पैसे माँगते, गृहस्थों के लडकों को बहकाकर चेले बना लेते हैं, न केवल पाषाण-पूजा अपितु पलंग, गद्दी, तकिए, खडाऊँ, ज्योति, दीप आदि का पूजन भी स्वामीजी की दृष्टि में कम मूर्खतापूर्ण नहीं है। कबीरपंथी, दादूपंथी, रामसनेही, गोसाँई सम्प्रदाय को भी स्वामीजी ने अस्वीकार किया है। 'कबीर क्या पुण्य था जो मृत्यु के बाद उसका शरीर फूल बन गया ?'

संसार में धूर्त लोगों की कमी नहीं। ऐसा-ऐसा मायाजाल रचते हैं कि उसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग फँस जाते हैं। 'जो कोई यह कहे कि मैं लडके को जीता रख सकता हूँ, तो आप ही क्यों मर जाता है ?'

एक ओर स्वामीजी ने पाखंड-खंडिनी पताका फहराकर अनेक धर्मों, मतों, मठाधीशों का खंडन किया और दूसरी ओर उन लोगों की भी खूब खबर ली जो ब्रिटिश शासकों का यशोगान 'सर' और 'रायबहादुर' का खिताब हासिल करने के लिए करते थे। स्वामीजी ने राजा भोज के राजशिल्पियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन शिल्पियों ने घोड़े के आकार का एक ऐसा यान बनाया जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोस और एक घंटे में सत्ताईस कोस जाता था। वह भूमि और अंतरिक्ष में भी चल सकता था। उन्होंने एक ऐसे पंखे का निर्माण किया जो बिना मनुष्य के चलाए कलायंत्र के बल से नित्य चला करता और पुष्कल वायु देता था। जो ये दोनों कलायंत्र आज तक बने रहते तो यूरोपियन इतने अभिमान में न चढ जाते। पुष्पक विमान की चर्चा तो मिलती ही है।

कितनी विचित्र बात है कि एक ओर कुछ भारतीय अपने आकाओं को खुश करने के लिए अपने ही देश के लोगों का ख़ून बहा रहे थे, जलियाँवाला बाग नरसंहार पर मौन साधे बैठे थे और 1857 की क्रांति को 'गदर' कह रहे थे और दूसरी ओर

दयानद सरस्वती जैसे पुरोधा न केवल विदेशियों अपितु भारतीयों की पोप-लीलाओ का पर्दाफाश कर रहे थे। उन्होंने असत्य को असत्य और सत्य को सत्य ही कहा। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा स्थापित की, शुद्ध चैतन्य को स्वीकारा। वे सभी धर्मो का आदर भी करते थे, पर स्थापना तो उन्होने आर्यावर्त, आर्यभाषा और आर्य-विचारो की ही की। लबे अरसे तक आर्य-इतिहास का अध्ययन कर वे एक निष्कर्ष पर पहुँचे और वह निष्कर्ष था—सत्य ही सत्य है। सत्य के प्रकाश को देखना ही होगा।

अन्य धर्मो की तरह जैन धर्म भी मुक्ति की बात करता है। इस धर्म में मुक्ति या स्वर्ग का जो स्वरूप है वह इस प्रकार है—

'ऊर्ध्वलोक मे एक सिद्धशिला स्थान है। वह पैतालीस लाख योजन लबी पोली और आठ योजन मोटी है। गोदुग्ध से उजली, स्वर्ण-सी चमचमाती, स्फटिक-से निर्मल। वह सिद्धशिला चौदहवें लोक की शिक्षा पर है और उसमे शिवपुर धाम और धाम में मुक्त पुरुष जन्म-मरण से मुक्त।'

'महावीर को जन्म-समय में एक करोड़ साठ लाख कलशो से स्नान कराया गया। दर्शन के लिए दशाण राजा गया। उसके अभिमान के निवारण के लिए 16,77,72,16000 इद्र के स्वरूप और 13,37,05,72,80,00,00,000 इद्राणी आई।'

'यह कैसी बात हुई कि इंद्र और इंद्राणियों के खडे रहने के लिए कितने ही भूगोल चाहिए।'

और वत्स ध्यानस्थ हो स्वामीजी की बात सुन रहा था।

जैनियों के अनुसार न तो कुएँ, तालाब बनवाने चाहिए और न ही अन्न भूँजना, कूटना, पीसना और पकाना चाहिए। अन्न-जल के बिना भला कोई प्राणी कैसे जी सकता है ?

'बगीचा लगाने से एक लाख पाप लगता है माली को।'

'चमरी रखना भिक्षा माँग के खाना, सिर के बाल लुंचित कर देना, श्वेत वस्त्र धारण करना, किसी का संग न करना, मुख पर पट्टी बाँधना धर्म कैसा है ?'

'मुख पर पट्टी न बाँधने से दुर्गंध फैलती है। शाक-पात न खाने से अनंत जीवों की रक्षा होती है। इनके तीर्थकरों की आयु 90,000 से लेकर कई लाख तक है और शरीर साढे तीन सौ धनुष का है। महावीर ने अँगूठे से पृथ्वी दबाई और शेषनाग काँप गया। सर्प के काटने से लहू की जगह दूध निकला। उनके पैर पर खीर पकाई गई और उनका पैर नहीं जला।'

इस तरह की बातें किसी बुद्धिमान व्यक्ति की समझ मे नही आतीं। कोई महामूर्ख और अंधविश्वासी ही मान सकता है।

'यदि ईश्वर ने भूमि की धूलि से आदम को बनाया तो उसकी स्त्री को धूलि

से क्यो नही बनाया ? और नारी को हड्डी से बनाया तो आदम को हड्डी से क्यो नही बनाया ? जो आदम की एक पसली निकालकर नारी बनाई तो सभी मनुष्यों की एक पसली कम क्यों नहीं होती ? और स्त्री के शरीर मे एक ही पसली होनी चाहिए ? क्योकि वह एक ही पसली से बनी है। क्या जिस सामग्री से पूरा जगत् बनाया उस सामग्री से स्त्री का शरीर नहीं बन सकता था ?'

वत्स समझ गया था कि स्वामीजी ईसाई मत पर प्रहार कर रहे हैं। स्वामीजी अपनी रौ मे बोलते चले जा रहे थे–

'क्या बाइबल मे वर्णित ईश्वर की नाक भी है कि जिससे सुगंध सूँघा ? क्या वह मनुष्यबत् अल्पज्ञ नहीं है कि कभी शाप देता है और कभी पछताता है ? प्रथम सबको मार डाला और अब कहता है कि कभी न मारूँगा।'

'यदि खतना करना ईश्वर को इष्ट होता तो उस चमडे को आदि सृष्टि मे बनाता ही नही और जो यह बनाया गया तो वह रक्षार्थ है, जैसा ऑख के ऊपर का चमडा। फिर उसने (ईश्वर) अविरहाम से क्यो कहा कि तुम्हारी पीढ़ियों मे हर एक आठ दिन के पुरुष का खतना किया जाए ? और अब ईसाई लोग ईश्वर की आज्ञा क्यो नही मानते ?'

'जिसका ईश्वर बछडे का मांस खाए तो उसके बछड़े गाय-बछडे आदि पशुओ को क्यो छोडे ?'

'आओ, हम अपने पिता को दारव रस पिलाएँ और उसके साथ शयन करे और पिता से वश जुगावें।'

जिस धर्म में पिता-पुत्री के दैहिक संबंधों पर कोई आपत्ति न हो तो वह धर्म ही कैसा ? जैसा कि स्वामीजी ने पिता-पुत्री के एकात में बैठने पर भी घोर आपत्ति जताई है।

अत्येष्टि पर प्रहार करते हुए स्वामीजी कहते है, 'जिससे प्रीति हो उसको जलाना अच्छी बात नही। बाइबल के अनुसार।

'यदि मृतक से प्रीति रखते हो तो उसे घर में क्यों नहीं रखते ? और गाड़ते भी क्यो हो ? जिस जीवात्मा से प्रीति थी वह निकल गया ।'

'ईश्वर ने राखिल को स्मरण किया और उसकी कोख खोली। वह गर्भवती हुई।'

क्या ईश्वर भी मनुष्य की तरह रति-सभोग करता है ?

'तब बारह शिष्यो में से एक शिष्य यिहूदा इस्करियोति प्रधान याजकों के पास गया और कहा कि जो मैं यीशु को आप लोगों के हाथ पकडवाऊँ तो आप लोग मुझे क्या देगे ? उन्होंने उसे तीस रुपए देने को ठहराया।

'जो बाइबल में ईश्वर लिखा है वह इजराइल आदि कुलों का स्वामी है या सब ससार का ?'

'ईसाइयों के स्वर्ग में विवाह भी होते है, क्योकि ईसा का विवाह ईश्वर ने वही कराया था।'

स्वामीजी का धारा-प्रवाह वाचन वत्स शात मन से सुन रहा था। शायद और लोगों ने भी सुनी होंगी।

'मुसलमान लोग ऐसा कहते है कि यह कुरान खुदा का कहा है; परंतु इस वचन से यह विदित होता है कि इसका बनाने वाला कोई दूसरा है, क्योकि जो परमेश्वर का बनाया होता तो 'आरंभ साथ नाम अल्लाह के' ऐसा न कहता। यदि कुरान का खुदा ससार का पालन करने हारा होता तो अन्य मत वाले और पशु आदि को भी मुसलमानों के हाथ से मरवाने का हुक्म न देता। और 'काफ़िरों को कत्ल करो' न कहता। इसलिए कुरान ईश्वरकृत नहीं दीखता। एक शिला पर पत्थर मारने से बारह झरने कैसे निकल सकते है ?'

'रोजे की रात हलाल की गई तुम्हारे लिए कि मदनोत्सव करना अपनी बीवियो से।'

'अल्लाह के मार्ग मे लड़ो उनसे जो तुमसे लड़ते हैं। यहाँ तक कि उनसे लडो कि कुफ्र न रहे।'

'जो कुरान मे ऐसी बाते न होती तो इतना बडा अपराध जो कि अन्य मत वालों पर किया है, न करते।'

'तुम्हारी बीवियाँ तुम्हारे लिए खेतियाँ है। बस जाओ, जिस तरह चाहो अपने खेत मे।'

'ऐ ईमानवालो, लड़ाई में लगे रहो।'

ऐसा कौन-सा ईश्वर है जो अपने बंदो में घमासान कराता है ? शैतान तो सबको बहकाने वाला और खुदा शैतान को बहकाने वाला होने से यह सिद्ध होता है कि खुदा शैतान का भी शैतान है।'

'खुदा एक बार उत्पत्ति करता है और फिर दूसरी बार करेगा।'

'खुदा और मुसलमान ग़दर मचाने, सबको दुःख देने और अपना मतलब साधने वाले दयाहीन है। वह पक्षपाती हैं जिन्होने मुहम्मद साहेब को निकाला। खुदा ने उनको मार दिया।

कुरान से जो कुछ भी स्पष्ट होता है, उसका अर्थ यह है कि खुदा सातवे आसमान में रहकर भी धरती पर रहने वालों के प्रति अत्यत क्रूर है। दूसरी बात यह कि यह ग्रथ ईश्वरकृत न होकर मनुष्यकृत है। तीसरी बात यह कि नारी जाति के प्रति

जो भी विचार प्रगट किए गए हैं वे निंदनीय एवं अशोभनीय हैं।

जो कुछ भी इनमें दिखाई देता है वह असत्य और मिथ्या है।

भ्रमण के दौरान उनके एक भक्त ने स्वामीजी से प्रार्थना की, 'महाराज ! यदि आप शास्त्रों द्वारा मूर्तिपूजा का मंडन करने लग जाएँ तो हम आपको शंकर का अवतार मानने लग जाएँगे।' स्वामीजी ने उत्तर में कहा, 'मुझे विश्वनाथ की पदवी का लालच काशी-नरेश ने भी दिया था, परन्तु मैं सांसारिक वासना के वशीभूत होकर सत्य का परित्याग कभी नहीं कर सकता।'

दोपहर के भोजन के अनंतर स्वामीजी अपने विद्यार्थियों, कर्मचारियों को कुछ समय के लिए विश्राम करने की आज्ञा दे देते थे। एक बार एक विद्यार्थी स्वामीजी की ओर पाँव करके सो गया। जब सभी विद्यार्थी उठकर चले गए तो स्वामीजी ने उसे पास बुलाकर कहा, 'प्रत्येक आर्य को आर्य-मर्यादा का पालन करना चाहिए। बिना बुलाए बोलना, बड़ों की बातों में आप ही आप बोलने लग जाना आर्य-मर्यादा के विरुद्ध है। अपने माननीय व्यक्तियों की ओर पीठ करना और पाँव करके सोना भी आर्य-मर्यादा के प्रतिकूल है।' इतना सुनते ही वह विद्यार्थी चरणों पर गिरकर फूट-फूटकर रोने और क्षमा-याचना करने लगा।

विद्यार्थियों को सुधारने का भी उनका अलग तरीका था। उन्होंने एक विद्यार्थी को कुएँ से जल लाने को कहा। जल लाने की बजाय उसने तड़ाक से उत्तर दिया, 'मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा काम पानी ढोना नहीं है।' उसी दिन शाम को स्वामीजी ने सभी विद्यार्थियों को एकत्रित करके कहा, 'जिसके निकट कोई रहता हो और जिससे विद्या ग्रहण करता हो उसके वचन को अवश्य मानना चाहिए। उसकी आज्ञा कदापि भंग नहीं करनी चाहिए।'

तत्पश्चात् स्वामीजी ने उनसे कहा, 'गुरु-सेवा किस प्रकार करनी चाहिए, इस पर मैं आपको आपबीती सुनाता हूँ। जब मैं मथुरा में गुरु विरजानंदजी से शिक्षा ग्रहण कर रहा था तो अपनी स्मरण-शक्ति और विनय के कारण दंडीजी की अपार कृपा का पात्र बन गया था। इसलिए मेरे सहपाठी मुझसे ईर्ष्या करने लग गए। उन्होंने एकता करके गुरुजी से कहा—महाराज ! दयानंद बहुत अविनीत है। वह आपके पास तो अति नम्रता से मीठी बातें करता है परन्तु दूसरे विद्यार्थियों के सामने आपकी नकल करता, आँखें बंद करके आपकी तरह लाठी लेकर चलता और हँसी उड़ाता है।'

'दंडीजी ने कोपावेश में मुझे बहुत कटु वचन कहे और लाठी से इतना मारा कि मेरे घाव हो गए। मैं बिना कुछ कहे रोज उनके स्नान के लिए जल भर लाता और लगन से पढ़ता। गुरुदेव पर मेरे मौन का इतना प्रभाव पड़ा कि वे मुझे गले लगाकर फूट-फूटकर रोने लगे। 'दयानंद, दयानंद' के सिवा वे कुछ भी नहीं कह सके। मैं फिर

ने उनकी अपार कृपा का पात्र बन गया।"

बहुमुखी प्रतिभा के धनी स्वामीजी शिष्टता-शालीनता-संपन्न थे। न केवल वार्तालाप अपितु पत्राचार में भी वे मर्यादा का विशेष रूप में पालन किया करते थे। मैं तो मैं दयानंदजी की पत्र-विधा का उल्लेख कर चुकी हूँ, पर इस संदर्भ में उनके दो पत्रों का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही। एक पत्र महाराज प्रतापसिंहजी के लिए लिखा गया है, दूसरा 'भारत-मित्र' के संपादक महोदय के लिए। एक में शालीनता और स्पष्टता है और दूसरे में प्रखरता। इस अंतर को सहज ही देखा जा सकता है।

ओ३म्

श्रीयुत माननीयवर महाराजे श्री प्रतापसिंहजी,

आनंदित रहो।

यह पत्र बाबा साहब को भी दृष्टिगोचर करा दीजिए।

1. मुझे इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान योधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान, आप और बाबा साहब दोनों रोगयुक्त शरीर वाले हैं। अब कहिए इस राज्य का कि जिसमें सोलह लाख से ऊपर मनुष्य बसते हैं, उनकी रक्षा और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। सुधार और बिगाड़ भी आप पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर का आरोग्य-संरक्षण और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं। यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुनकर सुधार लेवें। जिससे मारवाड़ तो क्या, अपने आर्यावर्त देश-भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत कम जन्मते हैं और जन्म के भी बहुत कम चिरंजीवी शतायु होते हैं। इनके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं होता। उत्तम पुरुष जितना अधिक जीवें उतनी ही देश की उन्नति होती है। इस पर ध्यान आप लोगों को अवश्य देना चाहिए। आगे जैसी आप लोगों की इच्छा होवे वैसे कीजिए।

2. आगे जो यह सुना जाता है कि आगामी सोमवार के दिन यहाँ के लालजी आदि की मेरे साथ बातचीत होने वाली है, उसमें आपकी सम्मति है या नहीं ? यदि सम्मति है तो सायंकाल के सात बजे से साढ़े आठ बजे तक सभा में बराबर उपस्थित होंगे या नहीं ? जो आप या बाबा साहब उचित समय सभा में उपस्थित न रहेंगे तो मैं भी इन स्वार्थी व देश के बिगाड़ने वाले पुरुषों के साथ वाद करने के लिए उपस्थित न होऊँगा। कारण यह है कि उनमें सभ्यता की रीति बहुत कम देखने में मिलती है। और पक्षपात भी अधिकतर है। एक आपको छोड़कर अन्य पुरुष भी समय पर सभा



मे निष्पक्षपाती होकर सत्य बोलने वाला अब तक मेरी दृष्टि मे नही आया है। इसमे आपका उस सभा में उपस्थित रहना अत्यंत उचित समझता हूँ।

3. यदि सोमवार को शास्त्रार्थ कराने की इच्छा हो तो कल सायकाल सात बजे से लेकर आठ बजे तक उसके नियम एक दिन पहले अवश्य बन जाने चाहिए कि जिसमे दूसरे दिन बराबर शास्त्रार्थ चले। इसलिए लालजी को कल साय बुलवा लेना चाहिए।

4. इस पोप लीला की निवृत्ति करके यहाँ से अन्यत्र यात्रा करने का मेरा इरादा है। अनुमान है कि बाबा साहब ने आपसे कह भी दिया होगा।

इन उपरिलिखित सब बातो का उत्तर लेखपूर्वक आज सायंकाल तक मेरे पास भिजवा देवें।

मिति आश्विन वदी 3 शनि, स० 1940
—दयानद सरस्वती

इस पत्र मे स्वामीजी जहाँ शिष्टाचार का निर्वाह करते हैं वहाँ स्वाभिमान की भी रक्षा करते है। वे कही भी गिड़गिडाते दिखाई नही देते। वे अपना वर्चस्व बनाए रख राजाजी से पूछते हैं कि वे सभा मे बराबर उपस्थित होंगे या नहीं। वे कहीं नहीं लिखते कि कृपया अपनी उपस्थिति से कृतार्थ करें।

ओ३म्

श्रीयुत भारतमित्र संपादक महाशय निकटे निवेदनम्।

महाशय, आपके संवत् 1940 आषाढ़ सुदी 8 गुरुवार के छपे हुए पत्र में किसी ने वेद पर आक्षेप-पत्र छपवाया है। उस लेखक का अभिप्राय यही विदित होता है कि वेद ईश्वर की वाणी और अभ्रात नही है। परतु इस प्रश्न के करने वाले ने प्रश्न मात्र ही किया है, अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए कोई विशेष हेतु नही लिखा है। जैसे कोई कहे कि यह एक हजार रुपयों की थैली सच्ची नही। दूसरे ने उससे पूछा—क्या मैं तुम्हारे कहने मात्र से थैली को झूठी मान सकता हूँ ? जब तक तुम झूठा रुपया इसमें से एक भी निकाल के सिद्ध नहीं कर देते, तब तक मैं थैली को झूठा नहीं मानूँगा। वैसा ही दोनो महाशयो का आलेख है। यहाँ उनको योग्य था और है कि किसी एक वा अनेक मंत्रो को अपने अभिप्राय के अर्थ सहित वेद, अध्याय, मंत्र सख्यापूर्वक लिखकर पश्चात् कहते कि वेद ईश्वर की वाणी और अभ्रांत नही है, तो प्रत्युत्तर के योग्य प्रश्न होता। अब भी यदि उत्तर जानने की इच्छा हो तो इसी प्रकार करें, नही तो कुछ भी नही है। इसलिए प्रश्नकर्ताओं को उचित है कि पूर्वोक्त प्रकार से चारों वेदो में से जो कोई एक मंत्र भी भ्रात प्रतीत हो वह आपके पत्र में छपवाएँ।

उनका उत्तर भी आपके पत्र में उस समय छपवा दिया जाएगा। और उनको वेद के निर्भ्रांत होने के जानने की पक्की जिज्ञासा हो तो मेरी बनाई 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' को देख लेवें। यदि उनके पास न हो तो वैदिक मंत्रालय, प्रयाग से मँगाकर देखें। और जो उनको आर्य भाषा का पूरा ज्ञान न हो तो किसी सत्यवक्ता दुभाषिये पुरुष से सुनें। इस पर जो उनको शंका रह जाए तो मुझसे समक्ष मिल के जितनी शंका हो उन सबका यथावत् समाधान लेवें।" मैं ईश्वर नहीं किंतु ईश्वर का उपासक हूँ। परंतु वेद मनुष्यों के हितार्थ परमात्मा ने प्रकाशित किए हैं। इस अभिप्राय से कि जहाँ तक मनुष्य की विद्या और बुद्धि पहुँच सकेगी इतने तक कार्य मनुष्य कर सकेंगे। इसलिए यावत मेरी बुद्धि और विद्या है तावत निष्पक्षपात होकर वेदों का अर्थ प्रकाशित करता हूँ। और वह अर्थ सब सज्जनों के दृष्टिगोचर हुआ है, होता है और होता रहेगा। बड़े शोक की बात है कि आज तक एक भी दोष वेदभाष्य में से कोई भी नहीं निकाल सका है। ऐसी निर्मूल शंका कोई भी किया करें, इससे कुछ भी हानि नहीं हो सकती। इनको तो नास्तिक मत प्रिय लगता है। बहुत-से अखबारों में छपवाते हैं कि एच०एस० कर्नल ऑलकाट साहब ने हजारों मनुष्यों को रोगरहित किया। यदि यह बात सत्य है तो मुझको क्यों नहीं दिखलाते और मनवाते ? "मैं प्रसिद्धि से कहता हूँ कि यदि उनमें कुछ भी अलौकिक शक्ति या योगविद्या हो तो मुझको दिखलावें। मैंने जहाँ तक इनकी लीला सिद्धि देखी है, वह मानने के योग्य नहीं थी। अब क्या नई विद्या कहीं से सीख आए ? मुझको तो यह विषय निकम्मा आडंबर रूप दीखता है।

मिति श्रावण वदी 4, संवत् 1940

—दयानंद सरस्वती

इस पत्र में जिस ढंग से ऑलकाट महोदय पर अकाट्य तर्कों द्वारा प्रहार किए हैं वे अद्भुत हैं। सब कुछ स्पष्ट और डंके की चोट से निर्भयतापूर्वक कहा गया है। पत्र का प्रथम भाग पुस्तक की प्राप्ति के अतिरिक्त उनकी अनभिज्ञता पर भी प्रहार करता है।

इस प्रकार स्वामीजी एक विख्यात शिक्षाविद्, विद्वान्, दार्शनिक, प्रखर प्रवक्ता, बहुभाषी, प्रतिष्ठित साहित्यकार, हिंदी सेवी, संस्कृतज्ञ, भ्रमणशील और अपनी बात के धनी थे। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के रचनाकार अद्भुत गुरु और शिष्य थे। इनकी पहचान देश-देशांतरों में हुई। लेकिन खेद की बात है कि न तो इनके साहित्यकार और न ही समाज-सुधारक रूप को उतनी ख्याति मिली जितनी मिलनी चाहिए थी। उनके समकालीनों के गीत तो गाए जाते रहे, लेकिन उनकी ओर किसी इतिहासकार का ध्यान नहीं गया। उन्होंने हिंदी भाषा को गढ़ा, माँजा और चमकाया है।

अपने अल्पकालीन जीवन में स्वामीजी ने देश की जो सेवा की, उसका बखान

शब्दों में नहीं किया जा सकता। जिन पोप लीलाओं और पोंगापंथियों का उन्होंने पुरजोर खंडन किया, वही इनकी जान के दुश्मन बन गए। इनके अध्ययन के सामने जब बड़े-बड़े महंत, धर्म और राजनीति के ठेकेदार पत्ते की तरह थर-थर काँपने लगे तो स्वामीजी को कुछ राहत मिली कि उन्होंने देश की जनता के दिलों को छूने की कोशिश की है और भोली-भाली जनता को पाखंड से मुक्ति दिलाने का एक महान् यज्ञ का आयोजन किया। जिसमें अलग-अलग धर्मों के ठेकेदारों को इस महायज्ञ में आहुति के लिए आमंत्रित किया। देश के राजाओं-महाराजाओं से भी विचार-विमर्श किया। लेकिन हमारा रुग्ण समाज उनका पथ्य पचा नहीं पाया; इसलिए उन्हें हलाहल विष देकर उनकी वाणी को हमेशा के लिए मौन कर दिया गया। कई-कई बार उन्हें मारने की कोशिश की गई—कभी नदी में, कभी जमीन पर, कभी पान खिलाकर और कभी दूध पिलाकर। मेरी तरह बहुत-से लोगों को यह प्रश्न उद्वेलित कर रहा होगा।

क्या यह विष पोंगापंथियों द्वारा दिया गया ? क्या इसमें किसी बाहरी ताकत का हाथ था ? क्या शासक वर्ग ही इससे मुक्ति चाहता था ? या हमारे राजा-महाराजाओं की विलासप्रियता ही उन्हें मृत्यु की तरफ ले गई ? क्योंकि उनकी वाणी निडर और निष्कपट थी—सोई हुई जातियों के लिए शंखनाद-सी।

क्या यह शंखनाद हमें सुनाई देगा ?



परिशिष्ट

आर्यावर्त

स्वामीजी की दृष्टि मे इंद्रप्रस्थ पर युधिष्ठिर महाराज से लेकर यशपाल महागज तक 4157 वर्ष 9 मास और 14 दिनो तक 124 पीढियो ने शासन किया। दूसरे शब्दो मे स्वामीजी की रूपरेखा वाले आर्यावर्त पर 124 राजाओं ने शासन किया। राजा युधिष्ठिर ने 36 वर्ष, 8 मास और 25 दिन, राजा परीक्षित ने 60 वर्ष, राजा जनमेजय ने 84 वर्ष 7 मास और 23 दिन राज्य किया। राजा यशपाल पर सुलतान शाहबुद्दीन गोरी ने चढाई की। उन्हे प्रयाग के किले में 1249 में कैद किया और खुद इंद्रप्रस्थ पर शासन करने लगा।

आर्यसमाज के नियम

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

2. ईश्वर सच्चिदानंद स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी चाहिए।

3 वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

4. सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिए।

6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए।

8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए, किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

10. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

स्वामी दयानंदजी की जीवन-यात्रा की प्रमुख तिथियाँ

1	जन्म	सन् 1824 भाद्रपद कृष्णा 9 गुरुवार
2	बोध	सन् 1837 शिवरात्रि टकारा का शिवमदिर
3	गृह-त्याग	सन् 1846
4.	यात्राएँ	सन् 1846 से 1860 तक
5	कुभ दर्शन	सन् 1854 हरिद्वार मे
6	कानपुर-प्रयाग यात्रा-मिर्जापुर	सन् 1855-56 तक
7.	नर्मदा की खोज	सन् 1857
8	गुरु विरजानद के आश्रम मे	सन् 1860
9	आगरा-प्रवास	सन् 1863 से 65 तक
10	हरिद्वार का कुभ दर्शन	सन् 1867
11.	काशी यात्रा	सन् 1869
12.	कलकत्ता यात्रा	सन् 1872
13.	बबई यात्रा	सन् 1874
14.	अहमदाबाद	सन् 1874 के अंत मे
15.	बंबई यात्रा	सन् 1875, आर्यसमाज की स्थापना
16.	लाहौर मे आर्यसमाज की स्थापना	सन् 1877
17.	'सत्यार्थप्रकाश' का प्रकाशन	सन् 1875
18.	पुणे यात्रा	सन् 1875
19	काशी यात्रा	सन् 1876
20.	दिल्ली दरबार	सन् 1877
21.	लाहौर यात्रा	सन् 1877
22.	रुड़की यात्रा	सन् 1878
23	वैदिक मत्रालय की स्थापना	सन् 1880
24.	मेरठ यात्रा (छठी बार)	सन् 1880
25.	बबई यात्रा	सन् 1881
26.	परोपकारिणी सभा का पुनर्गठन	सन् 1883
27	महाप्रयाण	सन् 1883, दीपावली

संदर्भ-ग्रंथ

1 सत्यार्थप्रकाश — दयानन्द सरस्वती, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट

2 श्रीमद्दयानद प्रकाश — स्वामी सत्यानद

3 आत्मकथा — दयानद सरस्वती

4. स्वामी दयानद के पत्र एव विज्ञापन — श्री भगवद्दत्त

5 आर्यसमाज का इतिहास — इद्र विद्यावाचस्पति

6. स्वामी दयानद की हिदी सेवा — चंद्रभान सोनवले

7 दयानद ग्रथमाला

□□





राज बुद्धिराजा

जन्म : 16 मार्च, 1937, लाहौर

मातृभाषा : पंजाबी

शिक्षा : एम०ए० (हिंदी), पुष्पसज्जा इकेबाना, पी-एच०डी०

भाषा-ज्ञान : संस्कृत, हिंदी, पंजाबी, गुजराती, जर्मन, जापानी

शिक्षण : 1967 से दिल्ली विश्वविद्यालय के कालिन्दी कॉलेज के अतिरिक्त तोक्यो, पेरिस, रोम और लंदन विश्वविद्यालय में अध्यापन • वर्णमाला से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक तीन हज़ार से अधिक विदेशी राजनयिकों को अध्यापन ।

प्रकाशन : अट्ठाईस पुस्तकों का प्रकाशन, जिनमें 'देव के काव्य में अभिव्यक्ति-विधान', 'प्रश्नातीत', 'रेत का टीला', 'जापानी सीखें', 'जापानी-हिंदी शब्दकोश', 'दिल्ली अतीत के झरोखे में' और 'पारो खुश है' बहुचर्चित • तीन हज़ार आलेख, कविताएँ विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ।

पुरस्कार-सम्मान : राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से अलंकृत • महिला-शिरोमणि, रत्न-शिरोमणि, भारतीय प्रतिष्ठा, राष्ट्रीय एकता, मीडिया अवार्ड और यू०जी०सी० के पोस्ट डॉक्टोरल रिसर्च फेलोशिप से सम्मानित ।

प्रशासनिक अनुभव : 1972 से 1981 तक इंचार्ज नॉन कॉलेजिएट वूमन्स एजुकेशन बोर्ड, दिल्ली विश्वविद्यालय ।

सम्प्रति : कालिन्दी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन • अध्यक्ष, भारतीय-जापान सांस्कृतिक परिषद्, जी-233, प्रीत विहार, दिल्ली-110092

शून्य हो गया अन्त सभी कुछ,
मूर्छित होकर गिरे महीप,
भारी झोकों से झंझा के
बुझने को था देश-प्रदीप !
जब भूपित जागे मूर्छा से
कहा यही, बस भर कर आह,
"यही ज्ञात होती प्रभु-इच्छा
अधिककृत करे दुर्ग यह शाह !
फूट गया है भाग्य न होंगे
पहले से अब बाहु प्रबल,
होता जाता है अपना तो
सब प्रकार अब हृदय अबल !
तो क्या इस स्वाधीन स्वभू को
पराधीन लखने को हाय !
जीवन रखना होगा मुझको
कौन स्वाद चखने को हाय !